मूलाचार्यवाणी

।। सुबोधिनी तथा अणुभाष्य ।।

(संक्षिप्त–अध्ययन)

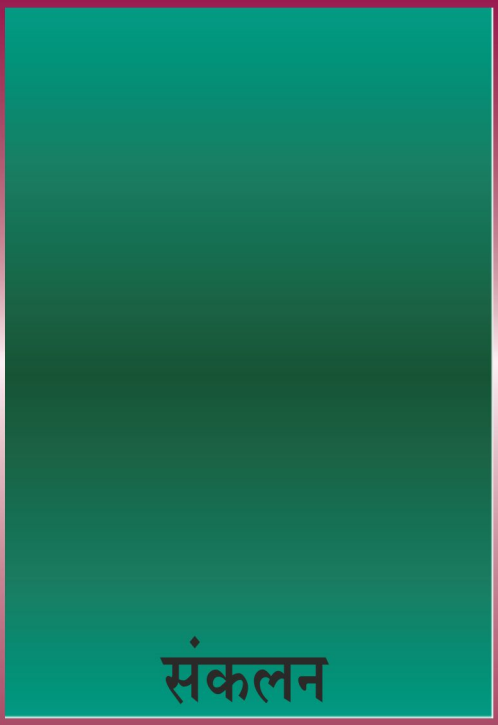

संकलन

संकलनकार

गोस्वामी श्याममनोहर

।। सुबोधिनी तथा अणुभाष्य ।।

(संक्षिप्त-अध्ययन)

गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रकाशक : श्रीवल्लभ विद्यापीठ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव कोपरेटिव सोसायटी
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर
महाराष्ट्र ४१६ ००८

संकलनकर्ता : गोस्वामी श्याम मनोहर

प्रथमसंस्करण : वि.सं.२०७९

प्रति : १०००

निःशुल्कवितरणार्थ : मुंबई विश्वविद्यालयके फिलोसोफी डिपार्टमेंट् और
वल्लभवेदांत एकेडमी एन्ड् रिसर्च सेन्टर्के लिए
श्रीवल्लभ विद्यापीठ श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम
ट्रस्ट्, कोल्हापुर, द्वारा प्रकाशित.

मुद्रक : पूर्वी प्रेस,
१, लोहनगर, गोंडल रोड्,
राजकोट, ३६०००२.

श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

ग्रन्थप्रकाशन :

साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:

प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	१०	प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	नि:शुल्क
प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी)	नि:शुल्क	पुष्टिप्रवेश १-२ ले. : गो.शरद् (गुज)	२०
पुष्टिप्रवेश-१-२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	१०	पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	३०
पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी)	२०	प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती)	५०
Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद्			६५

साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी

वार्तापरिचर्चा	अप्राप्य	साधनाप्रणाली संगोष्ठी	अप्राप्य
अधिकारपरिचर्चा	दुर्लभ	पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी	अप्राप्य
शरणागति विचारगोष्ठी	५०	सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी	५०
पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध	१००	जघन्याधिकार विचारगोष्ठी	८०
पुष्टिफलमीमांसा	१००		
पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच			२५
पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत-संक्षिप्तविवरण)			१००

तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार

शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा	२००	अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी	२००	प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी	१५०
अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी	२००		
वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी			नि:शुल्क

नित्यस्तोत्रपाठ:

पुष्टिपाठावली (हिन्दी)	२०	पुष्टिपाठावली (गुजराती)	२०
पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ			१०
पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद)			२०

सन्दर्भग्रन्थ:

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका			१०
Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद			१५
अमृत वचनावली (गुजराती)		नि :शुल्क अमृत वचनावली (हिन्दी)	नि:शुल्क

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:

पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००

पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका १५०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००
श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया
अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी द्वितीय खंड (अध्याय २०-३३) संस्कृत

इतिहास

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद

प्रथमस्कन्ध	१००	द्वितीयस्कन्ध	१००
तृतीयस्कन्ध (१-२)	४००	दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण)	१५०

चित्र

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य	निःशुल्क	श्रीगोपीनाथप्रभुचरण	निःशुल्क

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

गोशाला : मांडवी-कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

जीर्णोद्धार : तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज. पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171

व्होट्स्एप द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/

http://www.pushtimarg.net/

टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय : सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

Like our page on Facebook : Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :** आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
   - खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
   - खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
   - खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

२. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
   - खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड ३. द्वितीयाध्याय
   - खंड ४. तृतीयाध्याय
   - खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
   - खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)
   - खंड २.प्रथम (द्वितीय खंड. अध्याय ९-१९)
   - तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
   - खंड ४. जन्मप्रकरण
   - खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
   - खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
   - खंड ७. तामसफलप्रकरण
   - खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
   - खंड ९.राजससाधन-फलप्रकरण
   - खंड १०.सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
   - खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
   - खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
   - खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
   - खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१ष

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्रटीकोपेत) (हिन्दी)
१४. पुष्टिविधानम्[गुजरातीपाठाली, ब्रज तथा संस्कृत संस्करण]
१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड १. आद्यवादत्रयात्मिका

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृ-ति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्डः. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.
१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.
१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.
२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.
२१. भक्तिहेतुनिर्णय: भक्तिहंस:
२२. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रविज्ञप्तयः.
२३. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.
२४. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२५. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी)
२६. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)
२७. विवेक (हिन्दी-गुजराती)
२८. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)
२९. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी)
३०. नवरत्नम् (गुजराती)
३१. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)
३२. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती)
३३. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)
३४. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती)
३५. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३६. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी)
३७. चतुःश्लोकी(हिन्दी)
३८. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)
३९. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)
४०. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)
४१. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय)
४२. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)
४३. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज)
४४. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य
४५. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)
४६. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप
४७. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४८. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४९. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
५०. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५२. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५३. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५४. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५५. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५६. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५७. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५८. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५९. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
६०. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६१. अमृतका आचमन
६२. कृष्णएव तात्पर्यम्
६३. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६४. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६५. षोडशग्रन्थ परिचय
६६. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)

६७. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)
६८. सिद्धान्तवचनावली
६९. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)
७०. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक
७१. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो
७२. आत्मकथा : श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी.
७३. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा (लघु नाटक)
७४. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)
७५. शिक्षाश्लोका (गुजराती)
७६. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)
७७. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)
७८. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)
७९. भक्तिरस
८०. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति : राणाव्यास
८१. सुबोधिन्या (प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध)
८२. कपिलगीता (सविवरण) (भाग १,२) (हिन्दी)
८३. दीक्षाचतुष्टयी
८४. सुबोधिनी तथा अणुभाष्य (संक्षिप्त-अध्ययन)
८५. वेदस्तुतिकी भूमिका (भाग १)

पूज्य गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजीके वेदस्तुति के ओडियो प्रवचनकी लिंक इस क्यू.आर.कोड स्केन करनेसे मिलेंगे. वर्ष : २०१८, २०१९, २०२०, २०२२, २०२३

सम्पर्क : गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी, ४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६
विडियो/ओडियो प्रवचन और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे :
पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र,
२१४, अमरदिप कोम्पलेक्ष, २-रजपुतपरा, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

***

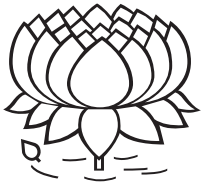

विषयानुक्रमणिका

विषय पृष्ठ

॥ श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ॥

(तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत)

॥ कपिलगीता ॥

(भक्तियोगविवेचनपरक)

[१] चौबीसवें अध्यायका विवरण १-१२

१. कर्दमऋषिद्वारा देवहूतिको सान्त्वन १
२. मोक्षदाता भगवान् कपिलदेवके अवतारका उपक्रम २
३. भगवद्वचनोंकी प्रमाणरूपता ५
४. भगवान्‌की सर्वरूपता ६
५. सांख्यद्वारा आत्मदर्शनकी प्रक्रिया ९

[२] पच्चीसवें अध्यायका विवरण १३-४३

१. प्रकरणसंगति तथा अध्यायार्थ १३
२. विदुरका प्रश्न तथा मैत्रेयका उत्तर १४
३. माता देवहूतिकी जिज्ञासा और श्रीकपिलदेवद्वारा उपदेशका उपक्रम १५
४. योगानुसार शास्त्रार्थनिरूपण १७
५. भक्तियोगका उपक्रम १९
६. सत्संगार्थ साधुपुरुषके लक्षण २१
७. भक्तियोगमें सत्संगकी प्रक्रिया २४
८. योग्य भक्तिकी जिज्ञासा २६

९. भक्तिका लक्षण २७
१०. भक्तोंकी साधनावस्था ३३
११. भक्तोंकी फलावस्था ३५
१२. भक्तोंका सायुज्य ३६
१३. भक्तोंका सालोक्यादि फल ३९
१४. सफलभक्तिका निरूपण ४२

[३] छब्बीसवें अध्यायका विवरण ४४-८३
१. सांख्यका उपक्रम ४४
२. प्रकृति-पुरुषके लक्षण ४७
३. प्राकृत/प्राधानिक तत्त्वोंका निरूपण ४९
४. इन्द्रियोंका निरूपण ५१
५. अन्तःकरणका निरूपण ५२
६. एकदेशियोंके मतानुसार कालका विचार ५३
७. स्वमतमें कालका विचार ५५
८. तत्त्वोंकी उत्पत्तिपूर्वक आधिदैविकादि लक्षणोंका निरूपण ५८-७८
१. महत्/चित्तके लक्षण ५८
२. अहंकारके लक्षण ६३
३. अहंकारका आधिदैविक स्वरूप ६६
४. मनके लक्षण ६९
५. बुद्धिके लक्षण ७१
६. बुद्धिकी पृथक्-पृथक् वृत्ति ७३
७. इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका निरूपण ७८
८. शब्दादितन्मात्राओंका निरूपण ८०
९. पंचमहाभूतोंमेंसे आकाशका निरूपण ८२

।। श्रीमद्भागवतदशमसुबोधिनीमें ।।

(निरोधलीलान्तर्गत तामसप्रकरणके अवान्तर प्रमाणप्रकरणमें वैराग्यगुणलीलापरक दसवां अध्याय)

।। नलकूबरमणिग्रीवकृतस्तुति ।।

(भगवत्स्वरूपविवेचनपरक)

१. समग्रस्तुतिका अर्थ	८४
२. कृष्णकी सर्वरूपता	८७
३. आधिदैविकप्रकारसे भी कृष्णकी सर्वरूपता	९०
४. आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक पहलुओंमें सर्वरूपता	९३
५. कृष्णकी प्रत्यक्षग्राह्यताका निराकरण	९५
६. आत्मप्रकाशितगुणोंके कारण भगवान् अप्रकट	९८
७. भगवदवतारोंके बहिर्दर्शनका प्रकार	१००
८. भक्तिस्थापनके लिए भगवत्प्राकट्य	१०३
९. प्रार्थना	१०५
१०. बिदा मांगनेकी प्रार्थना	१०६
११. जहां भी हम जायें वहां हमारी आपके प्रति भक्ति निभती रहे ऐसी प्रार्थना	१०८

॥ श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यान्तर्गत ॥

॥ प्रथमाध्यायका अधिकरण ॥

(प्रमाणस्वरूपकी विवेचना)

[१] जन्माद्यधिकरणम्	१११-१२६
(क) जन्माद्यस्य यतः (ख) शास्त्रयोनित्वात् ॥१।१।२॥	१११
तत्र जन्माद्यधिकरणविषयः	१११
जन्माद्यस्य अधिकरणगत विषय	१११
जन्माद्यस्याधिकरणसंशयः	१११
जन्माद्यस्य अधिकरणगत संशय	१११
जन्माद्यस्याधिकरणपूर्वपक्षः	११३
जन्माद्यस्य अधिकरणगत पूर्वपक्ष	११३
जन्माद्यस्याधिकरण-सिद्धान्तः	११४
जन्माद्यस्य अधिकरणगत सिद्धान्त	११५
सिद्धान्ताभिप्रेतजन्माद्यस्याधिकरणसूत्रार्थः	११८
जन्माद्यस्य अधिकरणसूत्रका सिद्धान्ताभिप्रेत अर्थ	११८
जन्माद्यधिकरणमतान्तरीयव्याख्याविमर्शः	१२१
जन्माद्यस्य अधिकरणकी मतान्तरीय व्याख्या	१२१
तत्र अवान्तरशंकासमाधाने	१२१
एक अवान्तर शंकासमाधान	१२२
द्वितीयावान्तरशंकासमाधाने	१२२
द्वितीय अवान्तर शंका-समाधान	१२३
तृतीयावान्तरशंकासमाधाने	१२५
तीसरा अवान्तर शंका-समाधान	१२६
[२] समन्वयाधिकरणम्	१२७-१४२
समन्वयाधिकरणविषयः	१२७
समन्वय अधिकरणगत विषय	१२७

समन्वयाधिकरणसंशयः १२७
समन्वय अधिकरणगत संशय १२७
समन्वयाधिकरणसिद्धान्तः १२८
तत्तु समन्वयात्॥१।१।३॥ १२८
समन्वय अधिकरणगत सिद्धान्त १२९
समन्वयाधिकरणमतान्तरीयव्याख्याविमर्शः १३०
समन्वय अधिकरणकी मतान्तरीय व्याख्याओंका विमर्श १३१
वेदानां कर्तव्योपदेशैकपरतया मुख्यं ब्रह्मप्रतिपादकत्वं सम्भवति न वा? १३१
वेद केवल कर्तव्योपदेशक शास्त्र है इसलिए ब्रह्म प्रमुखतया अभिप्रेत हो सकता है या नहीं? १३२
उपनिषदां ब्रह्मज्ञानोपदेशैकप्रयोजनवत्त्वेन ब्रह्माज्ञानिनामेव कृते पूर्वकाण्डप्रामाण्यं युक्तमयुक्तं वा? १३३
उपनिषदोंको अभिप्रेत केवल ब्रह्मज्ञान है इसलिए पूर्वकांड ब्रह्मको ना जाननेवालोंके लिए प्रमाण अथवा अप्रमाण है? १३४
एवं द्विविधमतान्तरनिरसनात् सिद्धो निष्कर्षः १३५
दो प्रमुख मतान्तर अमान्य होनेके कारण मिलता निष्कर्ष १३५
ब्रह्मणः समवायिकारणत्वं वा सर्वश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयप्रतिपादनेन विरोधनिराकरणं वा अधिकरणाभिप्रेतम्? १३५
इन सूत्रोंमें ब्रह्मके कारण होनेकी मीमांसा है, इस ब्रह्मके बारेमें श्रुतियोंमें किसी तरहका विरोधाभास नहीं है १३५
समन्वयाधिकरणे समवायिकारणत्वविचारसंगतिः १३६
समन्वय सूत्रकी संगति १३६
समन्वयाधिकरणनिष्कर्षः १३८
समन्वयाधिकरणका निष्कर्ष १३८
समन्वयाधिकरणनिष्कर्षे उपपत्त्यन्तरम् १३८
मायावादके अनुसार माहात्म्यरहित ब्रह्मको स्वीकारनेमें आती

आपत्ति १३९
तत्र अवान्तरशंकासमाधाने १४०
दूसरी गौण शंकाओंका समाधान १४१
समन्वयाधिकरणसंगतिः १४२
समन्वय अधिकरणकी संगति १४२

[३] प्रकृत्यधिकरणम् **१४३-१५३**
प्रकृतिश्चेत्यधिकरणविषयः १४३
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥१।४।२३॥ १४३
प्रकृतिश्चेत्यधिकरणगत विषय और संशय १४३
प्रकृतिश्चेत्यधिकरणपूर्वपक्षः १४३
प्रकृतिश्चेत्यधिकरणगत पूर्वपक्ष १४३
प्रकृतिश्चेत्यधिकरणसिद्धान्तः १४४
प्रकृतिश्चेत्यधिकरणगत सिद्धान्त १४५
अभिध्योपदेशात् च ॥१।४।२४॥ १४७
साक्षात् च उभयाम्नानात् ॥१।४।२५॥ १४९
आत्मकृतेः परिणामात् ॥१।४।२६॥ १५०
तत्रावान्तरशंकासमाधाने १५०
अन्य एक शंका तथा समाधान १५०
योनिश्च हि गीयते ॥१।४।२७॥ १५१
द्वितीयावान्तरशंकासमाधाने १५२
द्वितीय अवान्तरशंका और समाधान १५२

॥ द्वितीयाध्यायके अधिकरण ॥

(प्रमेयस्वरूपविवेचनपरक)

[१] तदनन्यत्वाधिकरणम् **१५४-१५६**
तदनन्यत्वम् 'आरम्भण' शब्दादिभ्यः ॥२।१।१४॥ १५४

तदनन्यत्वाधिकरणविषयः १५४
तदनन्यत्व अधिकरणका विषय १५४
तदनन्यत्वाधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ १५४
तदनन्यत्व अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष १५४
तदनन्यत्वाधिकरणसिद्धान्तपक्षः १५५
तदनन्यत्व अधिकरणगत सिद्धान्त १५५
भावे च उपलब्धेः ॥२।१।१५ **१५६**
सत्त्वात् च अवरस्य॥२।१।१६॥ **१५६**

[२] असद्व्यपदेशाधिकरणम् **१५७-१५९**
'असद्'व्यपदेशाद् न इति चेद् न धर्मान्तरेण
वाक्यशेषात् ॥२।१।१७॥ **१५७**
असद्व्यपदेशाधिकरणविषयः १५७
असद्व्यपदेशाधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ १५७
असद्व्यपदेश अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष १५७
असद्व्यपदेशाधिकरणसिद्धान्तः १५७
असद्व्यपदेश अधिकरणगत सिद्धान्त १५७
युक्तेः शब्दान्तरात् च॥२।१।१८॥ **१५८**
पटवत् च॥२।१।१९॥ **१५८**
यथाच प्राणादिः॥२।१।२०॥ **१५९**

[३] सर्वोपेताधिकरणम् **१५९-१६५**
सर्वोपेता च तद्दर्शनात्॥२।१।३०॥ **१५९**
सर्वोपेताधिकरणविषयः १५९
सर्वोपेता अधिकरणके विषय और संशय १५९
विकरणत्वाद् न इति चेत् तद् उक्तम्॥२।१।३१॥ **१६०**
सर्वोपेताधिकरणसंशयपूर्वपक्षनिरसनम् १६०
सर्वोपेताधिकरणमें पूर्वपक्ष और समाधान १६०

सर्वोपेताधिकरणपूर्वपक्षान्तरम् १६०
न प्रयोजनवत्त्वात् ॥२।१।३२॥ १६०
सर्वोपेताधिकरणमें दूसरा पूर्वपक्ष १६१
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥२।१।३३॥ १६१
सर्वोपेताधिकरणसिद्धान्तः १६१
सर्वोपेताधिकरणमें सिद्धान्त १६१
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ॥२।१।३४॥ १६२
तत्रावान्तरशंकासमाधाने १६२
सर्वोपेताधिकरणमें अवान्तर पूर्वपक्ष और समाधान १६२
न कर्म विभागाद् इति चेद् न, अनादित्वात् ॥२।१।३५॥ १६३
द्वितीयावान्तरशंकासमाधाने १६३
द्वितीय अवान्तर शंका-समाधान १६३
उपपद्यते चापि उपलभ्यते च ॥२।१।३६॥ १६४
तत्रोपपत्त्यन्तरम् १६४
इस बारेमें अन्य उपपत्ति १६४
सर्वधर्मोपपत्तेः च ॥२।१।३७॥ १६४
सर्वोपेताधिकरणनिष्कर्षः १६४
सर्वोपेताधिकरणका निष्कर्ष १६५

॥ तृतीयाध्यायके अधिकरणो ॥

(साधनस्वरूपविवेचनपरक)

[१] प्रकाशाश्रयवद्वाधिकरणम् १६६-१७२
प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात् ॥३।२।२८॥ १६६
प्रकाशाश्रयवद्वाधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ १६६
प्रकाशाश्रयवद् वा अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष १६६
समाधानम् १६७

समाधान १६७
पूर्ववद् वा ॥३।२।२९॥ १६९
एकदेशिमतेन समाधानम् १६९
दूसरे ऋषियोंका अभिप्राय १६९
उत्पत्ति-उपपत्तिपक्षौ : ब्रह्मणः सर्वरूपत्वसिद्ध्यर्थे
पक्षद्वयेन उपपत्तयः १६९
ब्रह्मकी सर्वरूपताकी सिद्धिके लिए दो पक्ष : उत्पत्तिपक्ष
और उपपत्तिपक्ष द्वारा उपपत्ति १७०
प्रतिषेधात् च ॥३।२।३०॥ १७१
उपपत्त्यन्तरम् १७१
दूसरी उपपत्ति १७१

[२] अन्तराभूतग्रामवदित्यधिकरणम् १७२-१८०
अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥३।३।३५॥ १७२
अन्तराभूतग्रामवदधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ १७२
अन्तराभूतग्रामवद् अधिकरणगत संशय और पूर्वपक्ष १७२
अन्तराभूतग्रामवदधिकरणसिद्धान्तः १७३
अन्तराभूतग्रामवद् अधिकरण सिद्धान्त १७३
अन्यथा अभेदानुपपत्तिः इति चेद्
न उपदेशान्तरवत् ॥३।३।३६॥ १७४
संशयान्तरम् १७५
अन्य संशय १७५
समाधानम् १७५
समाधान १७६
व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३।३।३७॥ १७८
आशंकान्तरं तस्य समाधानं च १७८
अन्य भी एक शंका और उसका समाधान १७९

[३] सैव हीत्यधिकरणम् १८०-१८३
सैव हि सत्यादयः ॥३।३।३८॥ १८०
सैव हीत्यधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ १८०
सैव हि अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष १८०
सैव हीत्यधिकरणसिद्धान्तः १८१
सैव हि अधिकरणका सिद्धान्त १८१
कामाद् इतरत्र तत्र च आयतनादिभ्यः ॥३।३।३९॥ १८१
द्विविधा भक्तिः १८१
द्विविधा भक्ति १८२

॥ चतुर्थाध्यायका अधिकरण ॥

(फलस्वरूपविवेचनपरक)

[१] जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् १८४-१९७
जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद् असंनिहितत्वात् च ॥४।४।१७॥ १८४
जगद्व्यापारवर्जाधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ १८४
जगद्व्यापारवर्ज अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष १८४
जगद्व्यापारवर्जाधिकरणसिद्धान्तः १८४
जगद्व्यापारवर्ज अधिकरणका सिद्धान्त १८५
लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारः १८५
लीलामध्यपाती भक्तोंमें लौकिकव्यापार शेष नहीं रहता १८५
भगवदितरविषयकः इन्द्रियव्यापारनिषेधः १८६
भगवान्‌से अन्यविषयक इन्द्रियोंके व्यापारका निषेध १८६
प्रत्यक्षोपदेशाद् इति चेद् न,
आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥४।४।१८॥ १८७
पूर्वपक्षान्तरम् १८७
अन्य पूर्वपक्ष १८७

समाधानम् १८७
समाधान १८७
शंकान्तरम् १८८
अन्य शंका १८८
तत्समाधानम् १८९
इसका समाधान १८९
विकारवर्ति च तथाहि स्थितिम् आह ॥४।४।१९॥ १९०
शंकान्तरम् १९०
अन्य शंका १९०
तत्समाधानम् १९०
इसका समाधान १९१
दर्शयतश्च एवं प्रत्यक्षानुमाने ॥४।४।२०॥ १९२
श्रुतिस्मृत्यादिभिः भगवतः अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वम् १९२
श्रुति स्मृति आदिमें भगवान्‌का अचिन्त्या अनन्तशक्तिमान्
होना स्वीकारा गया है १९२
आचार्याणां तात्पर्यम् : प्रभोरेव स्वतःपुरुषार्थत्वम् १९४
महर्षि बादरायण आचार्यका तात्पर्य वही है कि प्रभु
ही स्वतःपुरुषार्थरूप हैं १९५
भोगमात्रसाम्यलिंगात् च ॥४।४।२१॥ १९५
पुरुषोत्तमस्यैव फलरूपत्वे हेत्वन्तरनिरूपणम् १९५
फलरूप तो श्रीपुरुषोत्तम ही हो सकते हैं इसके समर्थनमें
दूसरा हेतु १९६
अत्र आशंकान्तरम् १९६
इस बारेमें दूसरी भी एक आशंका १९७
अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात् ॥४।४।२२॥ १९७
समाधानम् १९७
इस शंकाका समाधान १९७

उद्धरणतालिका १९८
उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका २०२

।। श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ।।

(तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत)

।। कपिलगीता ।।

(भक्तियोगविवेचनपरक)

(चौबीसवें अध्यायका विवरण)

(अध्यायार्थ)

सुबोधिनीकारिका :

चतुर्विंशे तथा अध्याये मोक्षो बुद्धिश्च वर्ण्यते ।।
कपिलो हि हरिर् बुद्धिः उपदेशो भजिस्तथा ।।
ऋणत्रयपरित्यागो मोक्षार्थं तस्य वर्ण्यते ।।१।।

अनुवाद : इस चौबीसवें अध्यायमें मोक्ष और बुद्धि का वर्णन किया गया है. महर्षि कपिल तो स्वयं श्रीहरि हैं और उनकेद्वारा दिया गया बुद्धिका उपदेश एवं भजन और पितृऋण ऋषिऋण और देवऋण, ऐसे तीनों ऋणोंका परित्याग मोक्षके लिये वर्णित हुआ है ।।१।।

(कर्दमऋषिद्वारा देवहूतिको सान्त्वन)

मैत्रेयः उवाच

श्लोक :

निर्वेदवादिनीम् एवं मनोः दुहितरं मुनिः ।।
दयालुः शालिनीम् आह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ।।१।।

अनुवाद : **मैत्रेय कहते हैं कि वैराग्यकी बात कहनेवाली मनुराजाकी सुशील पुत्रीको शुक्लनारायणके दिये हुए वरदानका स्मरण करके दयालु कर्दम मुनिने कहा ।।१।।**

(मोक्षदाता भगवान् कपिलदेवके अवतारका उपक्रम)

ऋषिः उवाच

श्लोक :

मा खिदो राजपुत्रि इत्थम् आत्मानं प्रति अनिन्दिते!।।
भगवान् ते अक्षरो गर्भम् अदूरात् सम्प्रपत्स्यते।।२।।

अनुवाद : कर्दम ऋषि बोले, हे अनिन्द्य राजपुत्री! तुम अपने लिए इस प्रकार आत्मनिंदारूप खेद मत करो. क्योंकि तुम्हारे गर्भसे कुछ समय बाद अन्तयार्मीसे अधिक अक्षररूप भगवान् जन्म लेनेवाले हैं।।२।।

श्लोक :

धृतव्रता असि भद्रं ते दमेन नियमेन च।।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया च ईश्वरं भज।।३।।
स त्वया आराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः।।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिम् औदर्यो ब्रह्मभावनः।।४।।

अनुवाद : भगवान् यदि खुद प्रकट होनेवाले हों तो साधन करनेकी ज़रूरत नहीं है अतः समझाते हैं, तुमने तप सुवर्णादिके दान, इन्द्रियनिग्रह करके स्नान आदि नियमोंका पालन करके व्रतोंका निर्वाह किया है, इस लिये श्रद्धापूर्वक ईश्वरका भजन करो।।३।।

इस प्रकार आराधना करनेपर श्रीहरि तुम्हारे गर्भसे अवतीर्ण हो कर मेरा यश बढ़ायेंगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तुम्हारे हृदयकी अहंकारमयी ग्रंथिको काटेंगे।।४।।

सुबोधिनी : तर्हि साधनं न कर्तव्यम् इति आह धृतव्रता इति. साधनानि सिद्धे भगवति प्रवर्तन्ते, यदा भगवान् स्वयमेव आगमिष्यामि इति मन्यते,

तदा साधनानि कृतानि भगवन्तं बोधयन्ति, प्राप्नुवन्ति, वशीकुर्वन्ति, उत्पादयन्ति. यथा लोके स्वभावतो भोक्तारम् अतिथिनिमन्त्रणादीना वशीकृत्य भोजयन्ति, नतु अभोक्तारम् उपायशतैरपि. यतो भगवान् स्वयं समागन्ता, अतः साधनानि कर्तव्यानि. तत्र कानिचिद् देहशुद्ध्यर्थम् आदौ कर्तव्यानि तानि तव न कर्तव्यानि इति आह धृतव्रता असि इति. पातिव्रत्यव्रतं धृतमेव त्वया वर्तते. अतः परं त्वयि गते गमिष्यति इति चेत्, तत्र आह भद्रं ते इति. ते भद्रम् अस्तु. अस्मद्वाक्यादेव व्रताकरणेऽपि व्रतिनइव तव फलं भविष्यति इति आशीः. सिद्धे व्रते भगवत्प्रसादार्थं पञ्चसाधनानि कर्तव्यानि इति आह. दमः इन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः. नियमो भगवदीयैरेव धर्मैः व्यवहर्तव्यम् इति. नियमाः स्नानादयो वा देहस्य; तदा 'च'कारेण प्रथमाः ग्राह्याः. तपः प्रसिद्धं कृच्छ्रादिरूपम्. द्रविणानि द्रव्याणि सुवर्णादीनि भगवदर्थं कर्तव्यानि इति एकं साधनम्. द्रविणदानं च अन्यद्, दानमेव वा. अन्यथा अवान्तरबहुत्वे बहुवचनं व्यर्थं स्यात् ''प्रयतात्मनः'' (भग.गीता ९।२६) इति वाक्यात्. दमो नियतः. व्रतानां हरितोषजनकत्वाद् आविर्भावे तेऽपि प्रयोजकाः. ''यज्ञो दानं तपश्चैव'' (भग.गीता १८।५) इति. भगवदुक्तशास्त्रार्थकरणे भगवान् परितुष्यतीति तपः प्रभृतीनां ग्रहणम्. 'द्रविण'पदेन च यज्ञाः 'भगवन्मखरूपा उक्ताः'. श्रद्धा अत्र सर्वांगम्. ननु सिद्धे किम् इति एतावन्ति साधनानि? तत्र आह ईश्वरम् इति. सः न येन केनापि नियम्यः, अतो असिद्धवदेव साधनानि कर्तव्यानि इति अर्थः. ततः किं भविष्यति इति आशङ्क्य आह सः त्वया इति. मया आराधितोऽपि त्वया चेद् एवम् आराधितः. स हि शुक्लः निर्दोषपूर्णगुणविग्रहो मामकं यशो वितन्वन्, लोके कर्दमस्य पुत्रो जातः इति कीर्तिं वितन्वन्, ते हृदयग्रन्थिं भेत्स्यति. अदोषार्थे, आवश्यकार्थे, विश्वासार्थे, च आह औदर्यो इति. उदरे भव औदर्यः. ननु तस्य मत्पुत्रस्य कथं मदज्ञानदूरीकरणसामर्थ्यम्? तत्र आह ब्रह्मभावनः इति. ब्रह्म भावयति अनुभावयति स्वस्मिन् अन्यस्मिन् च इति. अतः त्वय्यपि ब्रह्म आविर्भाव्य हृदयग्रन्थिं छेत्ता. एवम् आश्वासनम् उक्तवान्॥३-४॥

अनुवाद : सब साधनोंको सिद्ध करके अन्तमें भगवान्‌के लिये प्रवृत्त होना चाहिये. जब भगवदागमन होता है तब जो साधन किये होते हैं उसके कारण भगवान्‌का बोध होता है, भगवान् प्राप्त होते हैं, भगवान् वशीभूत और प्रकट भी होते हैं. जैसे लोकमें जो भोजन करना चाहता है ऐसे अतिथिको निमन्त्रण देके स्नेहाधीन करके उसे भोजन कराया जाता है; किन्तु जो भोजन नहीं करना चाहता हो उसे तो अनेक उपायोंसे भी भोजन नहीं कराया जा सकता. क्योंकि भगवान् स्वयं प्रकट होनेवाले हैं. अतः साधन तो करने ही चाहिये. उन साधनोंमेंसे कुछ तो देहकी शुद्धिके लिये होते हैं. उन साधनोंको देवहूतिको करना आवश्यक नहीं है क्योंकि अनेक व्रत स्वयंने ही किये हैं, जैसे कि पातिव्रत्यका व्रत. कर्दम ऋषिके गृहत्यागसे यह व्रतभंग नहीं होगा. क्योंकि स्वयं पति हि व्रतभंग नहीं हो ऐसा वरदान देना चाहते है. व्रतोंके पूर्ण होनेपर भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये पांच साधन करने चाहिये : **दम** इन्द्रियनिग्रह करना, **नियम** भगवत्सम्बन्धी धर्मोंमें परायण रहेना. अथवा स्नानादि कर्तव्य देहकी शुद्धिके लिये. **तप** कृच्छ्रादि, स्वर्णादि द्रव्योंका दान भगवान्‌के लिये करना. अन्यथा पांचों साधनोंमेंसे एक साधनके लिये बहुवचनका प्रयोग अनावश्यक होगा. व्रतोंके कारण भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर भगवान्‌को प्रकट करनेके लिये वे प्रयोजक बनते हैं. क्योंकि भगवान् गीतामें कहते हैं कि यज्ञ दान और तप तो करने ही चाहिये. भगवान्‌के द्वारा कहे वचनोंको शास्त्रके अनुरूप कर्तव्यनिर्वाहसे भगवान् परितुष्ट होते हैं. अतः 'तप' आदिका उल्लेख किया. यहां 'द्रव्यों'को कह कर भगवान्‌के यजनरूप कर्तव्योंका निर्देश किया. श्रद्धा होनी हर साधनमें आवश्यक अंग ही है॥३॥

यदि, भगवान् स्वयं प्रकट होनेवाले हों तो इतने साधन क्यों करने? समाधानके रूपमें यहां समझनेकी बात यह है कि भगवान् तो ईश्वर होनेसे कोई नियमके अधीन नहीं हैं. अतएव साधन करनेके

बावजूद भी साधन नहीं किये हैं ऐसा साधकता व्यवहार होना चाहिये. उससे क्या लाभ? वहां बताते हैं कि कर्दमने जैसे भगवान्‌की आराधना की ऐसे देवहूतिको भी ऐसी आराधना करनी चाहिये. ऐसे करनेसे शुक्ल निर्दोषपूर्णगुणविग्रह भगवान् कर्दमके यश विस्तारनेके लिये दुनियामें उनके घर पुत्रके रूपमें अवतरित हुए ऐसी कीर्ति बढायेंगे. और वे (भगवान्) देवहूतिके हृदयकी सभी ग्रन्थिओंका छेदन करेंगें. यह आवश्यक बातके ऊपर विश्वास हो इसलिये देवहूतिके गर्भसे प्रकट होंगे. देवहूतिके पुत्र देवहूतिका अज्ञान कैसे दूर कर पायेंगे? ऐसी शंकाका समाधान करते हैं कि वह पुत्र स्वयंके और अन्यके बारेमें ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेवाला प्रकट होगा. अतः ब्रह्मको जन्म देनेवाली माता देवहूतिको आश्वस्त रहना चाहिये॥४॥

मैत्रेयः उवाच

श्लोक :

देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः॥
सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थम् अभजद् गुरुम्॥५॥
तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः॥
कार्दमं वीर्यम् आपन्नो जज्ञे अग्निरिव दारुणि॥६॥

अनुवाद : **देवहूतिने भी प्रजापतिके सन्देशमें गौरवभावसे भलीभांति श्रद्धा रखके कूटस्थ पुरुषका गुरुभावसे भजन किया॥५॥**

इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर भगवान् मधुसूदन कर्दमजीके वीर्यरूपसे देवहूतिके गर्भसे प्रकट हुए जैसे काष्ठमेंसे अग्नि प्रकट होती है वैसे॥६॥

(भगवद्वचनोंकी प्रमाणरूपता)

श्लोक :

स्वीयं वाक्यम् ऋतं कर्तुम् अवतीर्णो असि मे गृहे॥

चिकीर्षुः भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥३०॥

अनुवाद : **आप अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं. आपने अपने वचनोंको सत्य करनेके लिए और सांख्ययोगका उपदेश देनेके लिए ही मेरे घरमें अवतार लिया है. भगवान् जिसके घरमें जन्म लेते हैं उसका जगत्में मान तो बढ़ता ही है॥३०॥**

सुबोधिनी : **किञ्च, यथा वेदाः प्रमाणं तथैव भगवद्वाक्यम् इति "अथ अहम् अंशकलया" (भाग.पुरा.३।२१।३२) इति वाक्याद् अवतीर्णम् इति आह स्वीयं वाक्यम् इति. अवतीर्णस्तु लोके ज्ञानप्रचारणार्थं भक्तानां मानं च वर्धयितुं काष्ठवृक्षादिकं परित्यज्य मे गृहे अवतीर्णो असि नतु स्वभाग्येन, वा कारणान्तरेण वा इति॥३०॥**

अनुवाद : और, भगवान्के विषयमें जैसे वेदवचनोंको प्रमाण माना जाता है ऐसे स्वयं भगवद्वचनोंको भी प्रमाण मानना चाहिये. यह बतानेके लिये कर्दम ऋषि कहते हैं कि भगवान् स्वयंकी अंश-कलासे अवर्तीण हुए हैं. स्वयंके वचनोंको सत्य करनेके लिये मेरे घरमें आप अवतीर्ण हुए हो. वह भक्तोंके ज्ञान और मान बढ़ानेके लिये ही. इसमें न तो भाग्य कारण है न अन्य कुछ कारण॥३०॥

(भगवान्की सर्वरूपता)

श्लोक :

तान्येव ते अभिरूपाणि रूपाणि भगवन्! तव॥
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानाम् अरूपिणः ॥३१॥

अनुवाद : **जो रूप भगवान्के भक्तोंको रुचिकर होता है वैसे लौकिकरूपोंसे रहित होनेके बावजूद भगवान्के लिये वैसे लौकिकरूपोंको धारण करके प्रकट होना तो योग्य ही है॥३१॥**

सुबोधिनी : **ननु तथापि हीनभावः कथं भगवतः उपपद्यते? तत्र उपपत्तिम् आह तान्येव इति. पुरुषोत्तमस्य हीनभावो न उचितः नच अयं हीनभावः, उभयविधानि भगवतो रूपाणि उचितानि यानि सर्ववेदप्रसिद्धानि आनन्दमयानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते. एतावताऽपि भगवान् अरूपएव. तान्येव आनन्दमयानि रूपाणि हे भगवन्! ते अभिरूपाणि, योग्यानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते. नराकृतीनि तानि च भगवतो अभिरूपाणि. यथा पूर्वं यानि रूपाणि कृतवान् तानि भगवतो वेद आह. यानि पश्चाद् भक्तानुरोधेन कृतवान् तानि अपि अभिरूपाण्येव, सामग्र्याः तुल्यत्वात्. अवचनन्तु इदानीन्तनत्वात्. एतावत्त्वं निषेधः च नास्त्येव. अन्यथाभानन्तु बुद्धिदोषाद् अन्येषां, भक्तानान्तु तद् आनन्दरूपमेव, अन्यथा रुचिः न स्यात्॥३१॥**

अनुवाद : किन्तु भगवान् स्वयं कैसे हीनभावमें प्रकट हुए? वहां उपपत्ति दे रहे हैं, जो पुरुषोत्तम है उसमें हीनभाव नहीं हो सकता. और ऐसे लौकिकरूपमें अवतीर्ण होना वह हीनभाव है ही नहीं. क्योंकि भगवान्के दोनों प्रकारके रूप—जो सर्ववेद प्रसिद्ध हो ऐसे आनन्दमय रूप, वैसे ही भक्तोंकी रुचिके अनुसार रूप भी उचित है. ऐसा होने पर भी भगवान् अरूप हैं. अतः वेद तो भगवान्ने लिये हुए आद्यरूपोंका निरूपण करते हैं. उसके बाद भगवान्की ऐसी महिमाका आनन्द लेनेवाले भक्तोंको जो नराकृति आदि रूप रुचिकर हों, ऐसे रूप भी भगवान् प्रकट करते हों तो वे भी स्वरूपविचारसे योग्य ही हैं. यह या वह, दोनों रूपोंको प्रकट करनेके लिये जो सामग्री (स्वरूपगत और लीलागत आनन्दको प्रकट करनेका सामर्थ्य और भावानुरूप स्वभाव रूपी) तो समान होनेके कारण. अब, हालमें कोई भक्तके भावानुरूप स्वरूप भगवान् प्रकट करें तो वह (स्वरूप) वेदके प्रकट होनेके बाद होनेसे वेदोंमें वर्णित न भी हो पर उसका निषेध तो नहीं है. वेदोंमें ऐसा तो निरूपण नहीं किया है कि वेदोंमें जितने रूप वर्णित हुए हैं उनसे अधिक रूप नहीं हो सकतें अथवा भगवान्में किसी तरहके रूप होनेकी सम्भावना ही नहीं है. (भगवान्) लौकिकरूप

धारण करनेसे लोकमें वे रूपोंसे जुड़े हुए अन्य सभी गुणधर्मोंको स्वीकारने पड़ेंगे, ऐसा विचार हमारी बुद्धिका दोष है भगवान्का नहीं. क्योंकि भक्तोंके लिये ऐसे लौकिकरूप भी आनन्दात्मक ही होते हैं॥३१॥

श्लोक :

परं प्रधानं पुरुषं महान्तम्
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्॥
आत्मानुभूत्या अनुगतप्रपञ्चम्
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये॥३३॥

अनुवाद : **अतः पर प्रधान पुरुष महत् काल ब्रह्मा त्रिगुणात्मक अहंकार लोकपालक देवताओं स्वयंकी अनुभूतिमें ही प्रपंचको भी अनुभव करनेवाले कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सर्वरूपसमर्थ कपिल आश्रयणीय हैं॥३३॥**

सुबोधिनी : **भगवतः फलरूपत्वं फलसाधकत्वं च उपपाद्य सर्वरूपत्वम् उपपादयति ब्रह्मत्वाय परम् इति. सर्वरूपं कपिलं प्रपद्ये. तानि रूपाणि गणयति परम् अक्षरं, प्रधानं प्रकृतिः, पुरुषः तद् अधिष्ठाता, महान् मुख्यः पुत्रः, कालो गुणक्षोभकः, कविः महतो अभिमानी, मूलब्रह्मा सूत्रात्मको वा, त्रिवृद् अहङ्कारः, लोकपालाः सर्वएव देवाः. एवं कारणरूपत्वम् उक्त्वा कार्यरूपत्वम् आह आत्मानुभूत्या इति. अनुगतः स्वस्मिन् लीनः, स्थितः, उत्पन्नो वा प्रपञ्चो यस्य. ज्ञानशक्त्याऽपि उत्पत्तिपक्षे उत्पत्तिः, अन्यथातु प्रलयः. ततश्च प्रपञ्चरूपो निष्प्रपञ्चरूपः च कपिलः उक्तो भवति. तथात्वे सामर्थ्यं स्वच्छन्दशक्तिम् इति स्वेच्छावशवर्तिनी तस्य शक्तिः॥३३॥**

अनुवाद : भगवान् केवल फलरूप और फलसाधक ही नहीं पर सर्वरूप होते हैं. उसका उपपादन यहां 'पर' = सर्वरूप भगवान् कपिलके शरणकी

बात कर रहे हैं. सर्वरूप भगवान् कपिल आश्रयणीय हैं. उनके रूप गिनाते हैं : **परं** अक्षररूप, **प्रधान** त्रिगुणात्मिका प्रकृति **पुरुष** प्रकृतिका अधिष्ठाता, **महान्** प्रकृति-पुरुषका प्रमुख पुत्र, **काल** प्रकृतिके गुणोंमें क्षोभ पैदा करनेवाला तत्त्व, **कवि** महत् तत्त्वका अभिमानी मूल ब्रह्मा अथवा सूत्रात्मक प्राण, **त्रिवृद्** अहंकार, **लोकपाल** सृष्टिसंचालक विविध देवता. ऐसे भगवान् कपिलकी कारणरूपता निरूपित करनेके बाद अब कार्यरूपता निरूपित करनेके लिये कहते हैं 'जिसकी आत्मानुभूति'में यह प्रपंच खुदमें लीन स्थित और उत्पन्न होता अनुभूत होता हो. ब्रह्मवादके अन्तर्गत उपपत्तिपक्ष और उत्पत्तिपक्ष, ऐसी दोनों प्रक्रिया स्वीकारी है. उनमेंसे (क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति और आनन्दशक्ति तीनों शक्तियोंमें) ज्ञानशक्तिद्वारा उत्पत्तिपक्षकी प्रक्रिया मान्य रखके यहां उत्पत्तिपक्ष वर्णित किया है. अन्यथा सृष्टिमें उत्पन्न पदार्थों ज्ञानशक्तिद्वारा तो ब्राह्मिक एकत्वमें लीन होंगे ऐसे कोई विचार करेगा. अतः कपिल रूपी भगवान् भी सप्रपंच और निष्प्रपंच दोनों रूपोंवाले हो सकते हैं. **'स्वच्छन्दशक्ति'** अर्थात् सभी शक्तियाँ उनकी इच्छाके अधीन है ऐसा दरसाया॥३३॥

(सांख्यद्वारा आत्मदर्शनकी प्रक्रिया)

श्लोक :

एतद् मे जन्म लोके अस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्॥
प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मताय आत्मदर्शने॥३६॥

अनुवाद : **जो लोग मोक्षप्राप्त करनेकी इच्छावाले हो उनको दुराशयके संघातसे मुक्त होके आत्मदर्शनमें उपयोगी सम्मत प्रक्रिया तत्त्वोंके प्रसंख्यानकी है॥३६॥**

सुबोधिनी : **प्रयोजनमपि पूर्वोक्तमेव इति तद् आह द्वाभ्यां एतद् मे इति. मे एतद् जन्म दुराशयाद् मुमुक्षूणाम् अर्थे. आशयः संघातात्मा,**

सः चेद् दुष्टः, तदा आत्मानं नाशयति. अतः एवं भावाद् उत्क्रमिष्यतः प्राणिनः उद्धारार्थं तत्त्वानां सङ्ख्यानं कर्तव्यम्. साक्षादपि हि दृश्यमानाः अत्यन्तासङ्कीर्णाः स्थाण्वादयो वक्रकोटरादिभिः पुरुषादिभ्यो विविच्यन्ते, नतु अन्यथा; किं पुनः अतीन्द्रियाः मिथो मिश्रीभूताः काल-आकाशादयः. अतएव तेषां तत्त्वानां प्रसङ्ख्यानं कर्तव्यम् उद्देशलक्षणाभ्याम्. तस्याऽपि प्रयोजनम् आत्मदर्शने. निमित्ते सप्तमी. आत्मज्ञानार्थं तत्त्वानामपि सङ्ख्यानं कर्तव्यम्, अन्यथा संघाते पतितः आत्मा न तेभ्यो विवेकम् अर्हति. नच अद्वयात्मज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, विद्यमाने हि भेदव्यवहारे साङ्ख्यप्रवृत्तिः. नहि स्वभावतो यादृशं जगद् अनिर्द्धारितम् आत्मज्ञाने उपयुज्यते, उद्देश्यापरिज्ञानद्वारा आत्मज्ञानार्थम् इति तत्त्वविदः. इतरभिन्नतया आत्मज्ञानार्थम् इति अन्ये. तेषान्तु स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां परलोकेप्सूनां श्रुतिश्रवणाभावाद् वेदविरोधो न आशङ्कनीयः. तेषां संघातजनित-दोषरूपाहङ्काराभावएव फलम्. अतः तादृशधर्मोपचितकालान्तरोत्पन्नब्राह्मणदेहे पुनः श्रुत्यनुसारेण आत्मविचारो भविष्यतीति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. अतएव प्रसङ्ख्यानम् आत्मदर्शने सम्मतम्. नहि आत्मविदः साङ्ख्ये विप्रतिपद्यन्ते॥३६॥

अनुवाद : जन्मका प्रयोजन भी पहले कहा था वही इन दो श्लोकोंसे कहते हैं. मेरा यह जन्म मोक्षार्थिओंके दुराशयरूप देहादिसंघातसे मुक्तिप्रदान करनेके लिये है. संघात रूपी आशय ही यदि दुष्ट हो तो वह आत्मविनाशक हो जाता है. ऐसे आशयसे उत्क्रान्ति प्राप्तिकी इच्छावाले प्राणिओंके उद्धारके लिये तत्त्वोंका प्रसंख्यान आवश्यक होता है. यद्यपि प्रत्यक्ष दीखते ठूंठ आदि, तिरछे या खोखले भागके कारण या पुरुषसे अलग ही दीखते होनेसे भिन्नतया समझमें आ जाते हैं, अन्यथा तो नहीं. पर यदि कोई इन्द्रियातीत पदार्थ एक-दूसरेके साथ मिल गये हों जैसे काल-आकाश, उनको एक-दूसरेसे अलग करना सरल नहीं होता. अतः तत्त्वोंको भिन्न-भिन्न संज्ञाओंको और लक्षणोंके आधारपर जान लेना जरूरी है. इस तत्त्वोंको पृथक् करनेका प्रयोजन आत्मदर्शनको

सुकर बनाना है. आत्माको अलग करनेके लिये अनात्मभूत तत्त्वोंकी जानकारी आवश्यक होती है. नहीं तो देहादिके संघातमें कैद आत्माको देहादि संघातसे अलग नहीं किया जा सकता. ऐसा करनेसे आत्माका अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिवचनोंसे विरोध उपस्थित नहीं हो पाता. क्योंकि जो भेदव्यवहार है उसको उद्देश्य बना करके सांख्यशास्त्र प्रवृत्त हुआ है. स्वरूपनिर्धारणके बिना स्वभावसिद्ध जगत् जैसा अनुभूत है वह कभी भी आत्मज्ञानमें उपकारक हो नहीं पाता. बाह्यदेशमें इदंकारसे निर्दिष्ट जगत्को आभ्यन्तर ऐतदात्म्याकारके रूपमें जानना तत्त्वविद जरूरी मानते हैं. अन्य कहते हैं कि सभी पदार्थोंसे आत्माको भिन्न जानना मुक्तिके लिये जरूरी है. उनके मतमें श्रौतसाधनामें अनधिकारी ऐसे स्त्री-शूद्र आदिको ज्ञानसे मोक्षप्राप्ति करानेवाले शास्त्रमें श्रुतिविरोधकी आशंका नहीं कर सकते. क्योंकि देहादि संघातसे युक्त आत्मामें देहादि संघातके दोषोंकी अनुभूति न हो वही उनके लिये फलरूप माने हैं. अतः उस प्रकारके धर्मोंवाला काल जब आता है तब योग्य ब्राह्मण शरीरमें फिर श्रुतिवचनोंके आधारसे आत्मविचार शक्य हो सकता है. कुछ भी अनुपपन्न नहीं है. अतः तत्त्वोंका प्रसंख्यान आत्मज्ञानके लिये मान्य रखा गया है. अतएव आत्मविदोंको सांख्यके लिये मतभेद नहीं हैं॥३६॥

श्लोक :

एष आत्मपथो अव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।
तं प्रवर्तयितुं देहम् इमं विद्धि मया भृतम्॥३७॥

अनुवाद : **बहुत समयसे यह आत्मदर्शनका मार्ग क्षीण हो कर नष्टप्राय हो गया था, इसे पुनः प्रवर्तित करनेके लिए ही मुझे अवतार ग्रहण करना पड़ा॥३७॥**

सुबोधिनी : **ननु इदं प्रसङ्ख्यानम् आधुनिकं चेत् कृतम् अनेन. अथ**

परम्परागतं कृतम् अवतारेण इति आशङ्क्य आह एषः इति. अयम् अनादिसिद्धएव आत्ममार्गः. भूयसा कालेन क्षीयमाणो नष्टः पश्चाद् अव्यक्तो लोके क्वापि अप्रकटः. पुराणानां कृशरतया निरूपकत्वाद् न व्यक्तिः. सर्वथा अव्यक्तौ तज्ज्ञातृणां स्मृतिसंस्कारनाशाद् नाशः. तं पुनः प्रवर्तयितुं सर्वेषाम् उद्धारार्थम् इमं देहं मया भृतं विद्धि॥३७॥

अनुवाद : अब यहां संदेह होता है कि यदि तत्त्वोंका प्रसंख्यान नूतनतया कल्पित हो तो कैसे विश्वास होगा और यदि परम्परागत ही हो तो भगवान्को अवतार लेनेकी आवश्यकता नहीं थी, उसका निराकरण करते हैं. यद्यपि आत्मदर्शनका यह मार्ग तो अनादिकालसे ही सिद्ध था फिर भी बहुत समयसे धीरे-धीरे क्षीण होते-होते लोकमें कहीं भी प्रकट न रहनेके कारण, तदुपरान्त, और पुराणोमें निरूपण होनेके बावजूद उनमें अनेक विषयोंका साथमें निरूपण होनेसे सांख्यसिद्धान्त वहां सुस्पष्ट होता नहीं है. अतः सब तरहसे अप्रकट रहनेके कारण उनके तत्त्ववेत्ताओंके भी स्मृतिसंस्कार नष्ट हो गये. अतः सबके उद्धारके लिये पुनः तत्त्वसंख्यानका प्रवर्तन करनेके लिये मुझे कपिलशरीर धारण करके भूतलपर अवतीर्ण होना पड़ा॥३७॥

।। श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ।।

(तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत)

।। कपिलगीता ।।

(पच्चीसवें अध्यायका विवरण)

(प्रकरणसंगति तथा अध्यायार्थ)

सुबोधिनीकारिका :

उक्तश् चतुर्भिर् अध्यायैः सप्रसंगो हरेर् भवः ।।
ज्ञानरूपं चरित्रन्तु नवभिः स्वस्य वर्ण्यते ।।१।।
प्रकाराः सगुणाः सर्वे नवो अध्यायाः ततो अत्र हि ।।
नवभावं गता सापि तदन्तेतु अभवो भवेत् ।।२।।
भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिः भूतानि सर्वथा ।।
मात्राः तत्त्वानि सर्वाणि भुंक्ते सर्वं यतो हरिः ।।३।।
आत्मा तस्य इन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं सः पश्यति ।।
योगएव हरेः बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते ।।४।।
पञ्चविंशे तथा अध्याये भक्तियोगो निरूप्यते ।।
वैतृष्ण्यं तस्य च अंगं हि इतरज्ञानमेव च ।।५।।
परमं साधनं भक्तिर् यथा भवति मुक्तये ।।
यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेः च साधकाः ।।६।।
वंशएव मनोः पृष्टस् तेन ज्ञानं न वर्णयेत् ।।
अतः शौनकसंप्रश्नः चरित्रत्वं च बुध्यते ।।७।।

अनुवाद : इक्कीससे चौबीस चार अध्यायोंमें श्रीहरिका जन्म और उनका प्रसंग भी वर्णित किया. अब आगे हरिका ज्ञानरूप चरित्र नौ अध्यायोंमें वर्णित किया गया है ।।१।।

सत्त्वादि तीनों गुणों परस्पर मिलके नौ होनेके कारण यहां भी नौ अध्यायों योजित हुए है. अतः प्राकृत नवविध गुणोंसे आवृत्त

भगवान्‌की माता भी अन्तमें निर्गुणावस्था प्राप्त कर लेगी॥२॥

भगवान्‌की तरह गुणातीत कोई हो जाय तो देहादिके घटक पांच महाभूतों या पांच तन्मात्राएं भी सब श्रीहरिके लिये भोग्य बन जाती हैं॥३॥

आत्मा, उसकी इन्द्रियाँ इत्यादि जो कहा जिससे सब कुछ आत्मा देखता हो वह तो हरिका योग सिद्ध हो तब ही संभव होनेके कारण वह(आत्म) प्रकाश सबको मिल सकता है॥४॥

इसके कारण पच्चीसवे अध्यायमें भक्तियोगका निरूपण किया गया है. ऐसे उस योगमें वैतृष्ण्य या वैराग्य और देहसे भिन्न आत्माका ज्ञान अंग बनता होनेसे वह भक्तिमें परम साधन बनके उसे मुक्तिदायिनी बना देता है. इसलिये संतपुरुष उसे शास्त्रके अनुसार समझाके भक्तिके साधक बन जाते हैं॥५-६॥

शौनक ऋषिने तो मनुके वंशके बारेमें जब प्रश्न किया था, जिसके कारण ज्ञानका वर्णन विदुरजीने नहीं किया. अतः प्रश्नके अनुरूप चरित यहां वर्णित है॥७॥

(विदुरका प्रश्न तथा मैत्रेयका उत्तर)

शौनकः उवाच

श्लोक :

कपिलः तत्त्वसंख्याता भगवान् स्वात्ममायया॥
जातः स्वयम् अजः साक्षाद् आत्मप्रज्ञप्तये नृणाम्॥१॥

अनुवाद : **तत्त्वोंकी गणनाके समर्थ भगवान् कपिल अजन्मा होनेके बावजूद अपनी मायासे स्वयं प्रकट हो कर अपना ज्ञान सभी लोगोंको प्रदान किया॥१॥**

मैत्रेयः उवाच

श्लोक :

पितरि प्रस्थिते अरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया॥

तस्मिन् बिन्दुसरे अवात्सीद् भगवान् कपिलः किल ॥५॥

अनुवाद : पिता कर्दम ऋषिके वनप्रस्थानके बाद माताको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उसी बिन्दुसरोवरके तटपर भगवान् कपिलने निवास किया था ॥५॥

श्लोक :

तम् आसीनम् अकर्माणं तत्त्वग्रामाग्रदर्शनम् ॥
स्वसुतं देवहूतिः आह धातुः संस्मरती वचः ॥६॥

अनुवाद : तत्त्वग्रामके पारदर्शी अनुभवमें परायण होनेसे कोई भी कर्ममें प्रवृत्त नहीं हुए ऐसे अपने आत्मजको देवहूतिने, विधाताके वचनको याद करके प्रश्न किया ॥६॥

(माता देवहूतिकी जिज्ञासा और श्रीकपिलदेवद्वारा उपदेशका उपक्रम)

देवहूतिः उवाच

श्लोक :

निर्विण्णा नितरां भूमन्! असदिन्द्रियतर्पणात् ॥
येन सम्भाव्यमानेन प्रविष्टा अन्धन्तमः प्रभो! ॥७॥

अनुवाद : देवहूति बोलें, असद्वासनावाली इन्द्रियोंको मैं खुश रखना नहीं चाहती. क्योंकि उसके कारण तो अन्धन्तममें प्रवेश कर जानेकी संभावना प्रबल हो जाती है ॥७॥

श्लोक :

तस्य त्वं तमसो अन्धस्य दुष्पारस्य अद्य पारगम् ॥
सच्चक्षुः जन्मनाम् अन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥८॥

अनुवाद : उस अपार अन्धन्तमको आप पार करनेवाले हो. आज आपके अनुग्रहसे मुझे सच्ची दृष्टि मिलि है ॥८॥

श्लोक :

य: आद्यो भगवान् पुंसाम् ईश्वरो वै भवान् किल।।
लोकस्य तमसो अन्धस्य चक्षु: सूर्यइव उदित: ।।९।।

अनुवाद : आप सचमुचमें मानवोंके आदि ईश्वर ऐसे भगवान्, अन्धकारसे अन्धे लोकमें आप चक्षुरूप; एवं सूर्यरूप जैसे उदित हुए हो।।९।।

श्लोक :

अथ मे देव! सम्मोहम् अपाक्रष्टुं त्वम् अर्हसि।।
यो अवग्रहो 'अहं-मम' इति एतस्मिन् योजित: त्वया।।१०।।

अनुवाद : हे देव! इसलिये मेरेमें प्रकट हुए संमोहनको आप ही दूर कर सकते हो. क्योंकि इस शरीरमें 'अहंता'-'ममता'का मेरा आग्रह बंध गया है।।१०।।

श्लोक :

तं त्वा गता अहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरो: कुठारम्।।
जिज्ञासया अहं प्रकृते: पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मभृतां वरिष्ठम्।।११।।

अनुवाद : आपके शरणमें आये होनेके कारण जिनका भरण करना हो उनके लिये आप संसारतरुके कुठाररूप हो. इसलिये मुझे प्रकृति और पुरुष की जिज्ञासा होनेके कारण सद्धर्मोके भरण करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऐसे आपकी शरणागति नमनपूर्वक स्वीकार करती हूं।।११।।

मैत्रेयः उवाच

श्लोक :

इति स्वमातुः निरवद्यम् ईप्सितं
निशम्य पुंसाम् अपवर्गवर्धनम्॥
धिया अभिनन्द्य आत्मवतां सतां गतिः
बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः॥१२॥

अनुवाद : **मैत्रेय बोले, ऐसे माताके निर्दोष वचनोंमें प्रकट हुई अभिलाषाको सुनके, लोगोंको अपवर्ग प्रदान करनेवाले कपिल भगवान्, अपनी बुद्धिसे माताको अभिनन्दित करके सभी आत्मवानोंकी गति समझाने लगें. तब उनके मन्दस्मितके कारण उनका मुख अतिशय शोभित हो गया॥१२॥**

(योगानुसार शास्त्रार्थ निरूपण)

(सुबोधिनीकारिका)

सांख्ये परित्यागो नित्यइति तद् अनुक्त्वा अंगत्वेन च तद् वक्ष्यामि इति विचार्य योगानुसारेणैव शास्त्रार्थम् आह 'योग...' इत्यादिपंचदशभिः :

अनुवाद : सांख्यसाधनोंमें परित्याग अपरिहार्य होता है. इसलिये सांख्यसाधनोंका सीधा उपदेश न दे कर, उसको योगसाधनाके अंगरूपमें कहे गये होनेके कारण यहां योगशास्त्रके अनुसार आगे आनेवाले पंद्रह श्लोकोंसे उपदेश दिया है.

कारिका :

योगः प्रशंसारूपेण प्रमाणेनापि वर्ण्यते॥
चित्तालम्बनरूपो हि योगस् तत्र प्रतिष्ठितः॥१॥

अनुवाद : योगशास्त्रकी प्रशंसा एवं उसके प्रमाण के आधारपर यहां

वर्णन हो रहा है. क्योंकि प्रश्न करनेवाली भगवन्माताके लिये चित्तके अवलंबनरूप योग प्रतिष्ठित है॥१॥

कारिका :

अन्तरात्मा स्वयं चित्तम् इन्द्रियाणि तथा तनुः॥
वेदे सांख्ये च योगे च शैवे वैष्णवएव च॥२॥
मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात्॥
आत्मशेषोहि अहंकारः स सांख्ये विनिरूप्यते॥३॥
एकीकृत्य मनः चित्तं योगोहि अत्र प्रवर्तते॥
ज्ञानक्रियारूपभेदात् शास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता॥४॥

अनुवाद : वेद सांख्य योग शैवागम या वैष्णवागम रूपी पांचों शास्त्रोंमें एक अन्तरात्मा अहंकार, स्वयंके चित्त, इन्द्रियों; एवं शरीर इतने मूलरूपों साधनाके अंगोंके नियत होते हैं. सांख्यसाधनामें अहंकार आत्माके अंगतया वर्णित हुआ है. यहां इस योगसाधनाके उपदेशमें मन और चित्त एकवद्भावसे निरूपित किया है. क्योंकि ज्ञान और क्रिया के प्रभेद और उसमें ज्ञानकी प्रमुखताको अनुलक्ष्य रख कर॥२-४॥

कारिका :

अतः चित्तं पुरस्कृत्य योगम् आह हरिः स्वयम्॥
चित्तस्य रूपभेदः च यच्च रूपम् इह उचितम्॥५॥
तादृशस्य फलं चापि साधनानि बहूनि च॥
तत्रापि एकस्य निर्धारः तस्य साधनमेव च॥६॥

अनुवाद : अतः चित्त और उसके भिन्न-भिन्न रूपों और उनमें यहां जैसे रूपमें चित्तका साधनार्थ परिग्रह उचित है वैसे सबसे पहले चित्तको अनुलक्षित कर हरि स्वयं योगसाधनाका उपदेश देना चाह रहे हैं॥५॥

वैसी साधनाका फल और उनके अनेक उपायों, उसमें भी किसी एकके ऊपर भार देके निर्धारित कर देना कि जिससे केवल उन्हीं उपायोंका उपदेश दिया जा सके॥६॥

कारिका :

तस्यापि विषयः प्रोक्तः चतुर्भिः षोडशात्मकः॥
तस्य साधनतारूपं तथात्वं मोक्षसाधने॥
बलिष्ठात्तु फलं सिध्येत् तस्माद् इति विनिर्णयः॥७॥

अनुवाद : उन उपायोंका भी विषय आगे आनेवाले चार श्लोकोंसे सोलह प्रकारसे निरूपित करेगें. उन उपायोंके साधन होनेका रूप मोक्षोपायके रूपमें अभिलषित है. उनको यदि प्रबल करनेमें आये तो उससे फल सिद्ध होनेसे उसका ऐसा विशेष निर्णय करनेमें आया है॥७॥

(भक्तियोगका उपक्रम)

श्रीभगवान् उवाच

श्लोक :

योगः आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे॥
अत्यन्तोपरतिर् यत्र दुःखस्य च सुखस्य च॥१३॥

अनुवाद : **भगवान्ने कहा, मनुष्यके कल्याणके लिये आध्यात्मिक योग है ऐसा मेरा मत है. ऐसे योगके कारण दुःख और सुख दोनोंका आत्यन्तिक उपरम हो जाता है॥१३॥**

श्लोक :

तम् इमं ते प्रवक्ष्यामि यम् अवोचं पुरा अनघे!।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगम् उर्वङ्गनैपुणम्॥१४॥

अनुवाद : हे निष्पाप माता! वैसे इस योगका प्रवचन आपको करुंगा. पूर्वमें भी अनेक अंगोंमें निपुणता प्रदान करनेवाले इस योगके श्रवणोत्सुक ऋषिओंके समक्ष मैंने ही प्रवचन किया था।।१४।।

श्लोक :

चेतः खलु अस्य बन्धाय मुक्तये च आत्मनो मतम्।।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये।।१५।।

अनुवाद : इस आत्माके लिये चित्तको ही बन्धनका भी और मोक्षका भी साधन माना गया है. प्रकृतिके गुणोंमें जब वह आसक्त या रत होता है तब बन्धनका और गुणातीत पुरुषमें आसक्त या रत हो तब मोक्षका कारण बन जाता है।।१५।।

श्लोक :

अहं-ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर् मलैः।।
वीतं यदा मनः शुद्धम् अदुःखम् असुखं समम्।।१६।।

अनुवाद : 'अहं-मम'के अभिमानके कारण काम लोभ आदिके मल उभरते हैं, उनसे रहित होनेसे मन शुद्ध बन जाता है तब सुख-दुःखके प्रति समभाववाला बन जाता है।।१६।।

श्लोक :

तदा पुरुषः आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्।।
निरन्तरं स्वयं ज्योतिर् अणिमानम् अखण्डितम्।।१७।।
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन च आत्मना।।
परिपश्यति उदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्।।१८।।

अनुवाद : तब प्रकृतिसे पर ऐसे स्वयंज्योति अणुतर परिमाणवाले

अखण्डित केवल आत्मस्वरूपको स्वयं निरन्तर ज्ञानवैराग्य और भक्ति के साथ देखने समर्थ हो जाता है. तब त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका ओज हनन होनेके कारण खुद निरन्तर उदासीन रूपमें अनुभव करने समर्थ हो जाता है॥१७-१८॥

श्लोक :

न युज्यमानया भक्त्या भगवति अखिलात्मनि॥
सदृशो अस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥१९॥

अनुवाद : अखिलात्मा भगवान्के साथ जुड़ी हुई भक्ति जैसा अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग ब्रह्मप्राप्तिके लिये योगिओंके लिये तो नहीं ही है॥१९॥

श्लोक :

प्रसङ्गम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः॥
सएव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम्॥२०॥

अनुवाद : विषयोंके संग कभी भी जीर्ण न होनेवाले पाशके(बन्धन) हेतु बनते है ऐसा कविगण दरसाते हैं पर वह संग साधुजनके साथ करनेसे मोक्षके द्वारको खोलनेवाला बन जाता है॥२०॥

(सत्संगार्थ साधुपुरुषोंके लक्षण)

श्लोक :

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्॥
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥२१॥
मयि अनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्॥
मत्कृते त्यक्तकर्माणस् त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥२२॥

अनुवाद : **सुखदुःखादिको सहन करनेकी शक्तिवाले, करुणाशील, समस्त देहधारिओंके सुहृद, शान्त, अजातशत्रु साधुगण होनेके कारण साधुभूषण होते हैं॥२१॥**

वे मेरेमें अनन्यभाव रखके दृढ भक्ति करनेवाले, मेरेलिये सर्व कर्मोंका और स्वजन बन्धुबान्धवोंका भी त्याग कर देते हैं॥२२॥

कारिका :

भगवद्गतचित्तेन ये श्रुताः भगवद्गुणाः॥
ये वा संकीर्तिताः नित्यं यावत् ते रसतां ययुः॥
तावत् त्यक्तैः तदीयैः च बाधा भवति सर्वथा॥१॥

अनुवाद : भगवान्में चित्त लगाके भगवान्के गुणोंका नित्य श्रवण करना तब-तक जरूरी है, जब-तक श्रवणभक्तिमें भक्तिरसरूपता प्रकट न हो जाय. क्योंकि बीचमें छोड़ देनेके कारण कभी बाधा उत्पन्न हो सकती है॥१॥

कारिका :

विविधाअपि ते तापाः सोढव्याः तापसत्वतः॥
बलात् कृत्वा तपस्यन्ते ततः प्राप्ताः स्वतो वराः॥२॥

अनुवाद : जो कुछ विविध ताप हैं, खुद तापस होनेके कारण उनको झेल कर भी सहन कर लेना चाहिये. ऐसी तपस्यासे वरदान स्वतः प्राप्त हो जाता है॥२॥

कारिका :

भजनापेक्षया ते वै भगवत्प्रीतिहेतवः॥
दुःखेषु भगवान् चापि नित्यं साक्षात् क्रियेत वै॥
देहादिविषयान् त्यक्त्वा चित्तं तद्गतमेव यत्॥३॥

अनुवाद : भजन करनेकी जगह ऐसी तपस्या भगवान्‌को ज्यादा अच्छी लगती है. क्योंकि दुःखोंमें भगवान् भी ज्यादा याद आते हैं. अतः देहादि विषयोंका त्याग करके चित्तको भगवान्‌में तत्पर बनाना चाहिये. नियत रूपसे भगवान्‌की कथा करनी होती है न कि फुरसतमें यदा-कदा. तब ही वह भगवत्कथा उज्ज्वल याने निर्दोषपूर्ण होती है. अथवा तो भाववर्णनके कारण भक्त उन्हें(कथाको) उज्ज्वल बना देते हैं॥३॥

सुबोधिनी : एवं सर्वदोषपरिहारम् उक्त्वा तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वसिद्ध-यर्थं स्वस्मिन् आधिदैविकगुणान् आह मयीति. भक्तिः अग्रे वक्तव्या, सर्वेन्द्रियाणां मनसा सह अहमहमिकतया भगवत्कार्यपरत्वम् इति. इन्द्रियाणि च निर्दुष्टानि सगुणानि च इति. न विद्यते अन्यस्मिन् यो भावः. 'भावो' नाम अन्तःकरणधर्मो अभिप्रायापरनामा सर्वत्र हेतुः. स भक्तिजनकोऽपि भवति, भावान्तरेणापि भक्तिं जनयति. तत् फलविषयकमेव भवति, भावान्तरसहितो वा. सहि देवतान्तरविषयः पदार्थान्तरविषयो मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभावो अत्र निषिध्यते फलभावश्च. अतएव मार्गान्तरेण न चाल्यतइति दृढा. यस्यां भक्तौ प्रमाणादिचतुर्धापि बाधा नास्ति सा दृढा. तदर्थमेव पूर्वसिद्धपदार्थानां त्यागः कर्तव्यः तेच लोकवेदात्मकाः. तद् आह मत्कृते भगवत्कार्यार्थमेव त्यक्तानि विहितानि कर्माणि...निरन्तरभग-वत्सेवायां च सर्वाण्येव कर्माणि बाधकानि... मत्कृते इति न आलस्यादिना तत्परित्यागः. लौकिकाः स्त्रीपुत्रादयः स्वजनाः, बान्धवास्तु अन्ये सजातीयाः ते उभये त्यक्तव्याः. तेषामपि सत्त्वेतु न स्वजनबन्धुत्वम्... ॥२२॥

अनुवाद : भक्तिके कारण सर्व दोषोंका परिहार समझाके उनके जैसे निर्दोष भक्तोंका सर्व पुरुषार्थ स्वयं भगवान् धर्मिरूपसे सिद्ध कर देते हैं, वह बतानेके लिये स्वयं भगवान् खुदके आधिदैविक गुणोंको बताना चाह रहे हैं. क्योंकि भक्ति तो आगे जाके बतायेंगे कि सर्व इन्द्रियोंकी मनके साथ 'पहले मैं करुं, पहले मैं करुं' ऐसी स्पर्धाके साथ भगवत्कार्यमें परायण होनेकी वृत्ति. इन्द्रियाँ निर्दोष या प्राकृत गुणोंके दोषवाली भी हो सकती हैं. अतः अनन्यभावमें अन्यके बारेमें कोई भाव होता

नहीं है. 'भाव' मतलब अन्तःकरणमें रहा हुआ अभिप्राय, यह सभी बातोमें हेतुभूत होनेसे कभी साक्षाद् भक्तिका जनक, तो कभी कोई अलग भावसे भी भक्तिका जनक बन जाता है. उस भावान्तरसे करनेमें आती भक्तिमें फल कुछ भिन्न ही अभिप्रेत होता है अथवा तो भजनीय देवतासे भिन्न कोई देवता या भिन्न कोई पदार्थ या अन्य कोई मार्गके बारेमें फलबुद्धि रखके भक्ति करनेपर अन्यभाव होता है. 'अनन्यभाव'में अन्यसहभाव (देवान्तर पदार्थान्तर अथवा मार्गान्तर)का निषेध है और फलान्तरका भी अभाव भक्तिमें कहा गया है. इसलिये अन्यमार्गोंके कारण जो भक्त चलायमान नहीं होते उनकी भक्ति दृढ़ हो जाती है. दृढ़भक्तिमें इतर प्रमाण प्रमेय साधन या फल बाधक नहीं हो पाते. वे कभी भी बाधक हों उससे पहले इनका परित्याग करना योग्य है. वह बाधक इतर प्रमाणादि लौकिक या वैदिक भी हो सकते हैं. वैदिक कर्तव्योंका त्याग आलस्य इत्यादि कारणोंसे नहीं किन्तु भगवत्कार्यमें बाधक होते हों तब ही करना चाहिये. लौकिकमें स्त्रीपुत्र इत्यादि स्वजन और अन्य स्वज्ञातिके बन्धुगण भी अभक्त हों तो उन्हें स्वजन-बन्धु नहीं, किन्तु भगवदीयजन होनेके कारण त्यक्तव्य होते नहीं...॥२२॥

(भक्तियोगमें सत्संगकी प्रक्रिया)

श्लोक :

मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च॥
तपन्ति विविधाः तापाः न एतान् मद्गतचेतसः॥२३॥

अनुवाद : **जो मेरी कथाके श्रवण-कीर्तनमें परायण होके स्वयंको शुद्ध बना देते हैं उनका चित्त मेरेमें स्थिर होनेके कारण विविध तापोंसे संतप्त नहीं होता॥२३॥**

श्लोक :

त एते साधवः साध्वि! सर्वसंगविवर्जिताः॥

संगः तेषु अथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहराः हि ते॥२४॥

अनुवाद : हे साध्वि! जो सर्वसंगविवर्जित साधु पुरुष हैं उनके संगकी प्रार्थना करनी चाहिये क्योंकि वे ही संगदोषको दूर करनेवाले होते हैं॥२४॥

श्लोक :

सतां प्रसंगाद् मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः॥
तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर् भक्तिर् अनुक्रमिष्यति॥२५॥
भक्त्या पुमान् जातविरागः ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुताद् मद्रचनानुचिन्तया॥
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिः योगमार्गैः॥२६॥
असेवया अयं प्रकृतेर् गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन॥
योगेन मयि अर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानम् इह अवरुन्धे॥२७॥

अनुवाद : मेरे सामर्थ्यका बोध प्रकट करनेवाली मेरी कथा हृदय और कर्ण दोनोंमें रसायन ओषधिका कार्य करनेवाली सत्पुरुषोंके संगसे बन जाती है. उसका सेवन करनेवालोंमें शीघ्र ही अपवर्गके मार्गमें श्रद्धा रति और भक्ति प्रकट होती है॥२५॥

भक्तिके कारण इन्द्रियोंसे देखे हुए या समझे हुए विषयोंमें मेरी लीलारचनाके रूपमें अनुचिन्तन कर पानेका सामर्थ्य विकसित होनेके कारण वहांसे (विषयोंसे) पुरुष विरागी बन जाता है. इसलिये स्वचित्तको सावधानीके साथ ग्रहण करके योगयुक्त बन

कर ऋजु योगमार्गोंके लिये यत्न कर पानेमें समर्थ बनता है॥२६॥

प्रकृतिके गुणोंका असेवन मतलब वैराग्योपेत ज्ञानसे योग और मुझे अर्पित की गई भक्तिसे मुझ प्रत्यगात्माको यहां पकड़ सकता है॥२७॥

(योग्यभक्तिकी जिज्ञासा)

देवहूतिः उवाच

श्लोक :

काचित् त्वयि उचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा॥
यया पदं ते निर्वाणम् अञ्जसैव अश्नवा अहम्॥२८॥

अनुवाद : देवहूति कह रही हैं कि आपमें श्रद्धा आदि अनेक प्रकारोंमेंसे कौनसे प्रकारकी भक्ति मेरे लिये योग्य है? वैसे ही मुझे सगुण या निर्गुण भक्तिभाव आपके लिये रखना उचित होगा? जिससे आपके निर्वाणपदको मैं सरलतासे प्राप्त कर सकूँ॥२८॥

श्लोक :

यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मन्! त्वया उदितः॥
कीदृशः कति च अङ्गानि यतः तत्त्वावबोधनम्॥२९॥
तदेतद् मे विजानीहि यथा अहं मन्दधीः हरेः॥
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्॥३०॥

अनुवाद : हे निर्वाणरूप! आपके उपदेशोंको, आपको लक्ष्य मानके शरके समान कैसे योगसे मुझे लक्ष्यानुसन्धान करना उचित होगा? सच्चा तत्त्वबोध जिससे हो ऐसे योगके अंग कितने? मैं तो मन्दबुद्धिवाली कठिन बात समझ नहीं सकती पर आप कृपा करके सरलतासे समझाये, तो मैं समझ पाउंगी॥२९-३०॥

मैत्रेयः उवाच

श्लोक :

विदित्वार्थं कपिलो मातुः इत्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वा अभिजातः ॥
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं
प्रावोचद् वै भक्तिवितानयोगम् ॥३१॥

अनुवाद : मैत्रैयने कहा, अपनी माताकी जिज्ञासा जानके जिनके तनसे स्वयं प्रकट हुए उनके लिये तत्त्वमीमांसायुक्त सांख्य और भक्तिवितानयोग समझानेके लिये कपिल भगवान् तत्पर हुए॥३१॥

(भक्तिका लक्षण)

श्लोक :

श्रीभगवान् उवाच

देवानां गुणलिंगानाम् आनुश्रविककर्मणाम् ॥
सत्त्वएव एकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकीतु या ॥३२॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेः गरीयसी ॥
जरयति आशु या कोशं निगीर्णम् अनलो यथा ॥३३॥

अनुवाद : भगवान्ने कहा : स्वयंके गुणोंके कारण अनुभवमें आती वेदोक्त कर्तव्यमें परायण 'देव' = इन्द्रियोंकी सिर्फ सत्त्वमूर्ति भगवान्में ही जो एकान्तिक स्वाभाविक, बिना कोई भी निमित्त = निर्व्याज मानसी भागवती वृत्तिवाली भक्ति सिद्धिओंसे भी गरीयसी होती है. क्योंकि वह शुद्ध चिदात्माका आवरणरूप लिंगशरीरके कोशको जलानेवाली होती है जैसे खानेमें आते खुराकको जठराग्नि शीघ्र जलाके पचा लेता है॥३२-३३॥

सुबोधिनी : तत्र भक्तिं लक्षयति देवानाम् इति द्वयेन. तस्य च

परिकरः सर्वोऽपि अग्रे वक्ष्यते एकादशभिः. एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः इति. इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः "द्वया ह प्राजापत्याः" (बृह.उप.१।३।१) इत्यत्र निरूपितानि. एकानि देवरूपाणि, एकानि असुररूपाणि. यानि अलौकिकं वेदोक्तमेव कर्म ज्ञानं वा जनयन्ति, तानि देवरूपाणि; यानि लौकिकं कर्मादि जनयन्ति, तानि आसुराणि. तेषाम् अन्योन्यं स्पर्द्धा. तत्र बलिष्ठानि आसुराणि. तैः, देवरूपाणि न स्वकार्ये प्रवर्तितुं शक्नुवन्ति. तानि चेद् आसन्योपासनादिना आसंगादिदोषाद् निवृत्तानि स्वस्य देवभावं प्राप्नुवन्ति, तदा कार्यतोऽपि देवरूपाणि भवन्ति. तत्र ऋषीणां बहुजन्माभ्यासाद् इन्द्रादिदेवानां च देवरूपाण्येव इन्द्रियाणि भवन्ति; ये वा दैव्यां सम्पदि जाताः, तेषामपि देवरूपाणि भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति. एकस्मिन्नेव गोलके उभयमपि तिष्ठति. यानि निषिद्धाद् विचिकित्सन्ते, यथा अमेध्यं दृष्ट्वा तथा कामिन्यामपि दृष्टायाम्. यानि पुनः निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते, तानि बलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्तीति आसुराणि. तत्र भक्तिः देवैरेव भवति, न आसुरैरिति 'देव'पदेन करणानि निर्मितानि. तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणम् आह गुणलिंगानाम् इति, गुणाः रूपादयः तैः लिंग्यन्ते, गुणाः लिंगानि येषाम् इति. देवरूपाणाम् इन्द्रियाणाम् एतल्लक्षणम्, तानि लयविक्षेपशून्यानि. ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते, नापि लयाभावाद् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्ति इत्यपि. किन्तु रूपमात्रं चक्षुः गृह्णाति पश्यति इति कृत्वा चक्षुः अस्ति इति ज्ञायते. एवम् अन्यानि. तादृशानि कथं भवन्ति इति आकांक्षायाम् आह आनुश्रविककर्मणाम् इति, गुरोः उच्चारणानन्तरं श्रूयते इति अनुश्रवो वेदः, तेन प्रोक्तानि कर्माणि आनुश्रविकाणि; तान्येव कर्माणि येषाम्. लोके दर्शनादिमात्रं, कार्याणितु वैदिकान्येव तेषाम्. दैवाद् येषाम् एतादृशानि इन्द्रियाणि भवन्ति, तेषां भक्तिः भवति इति उक्तम्. किञ्च तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिबहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनया अभ्यासाद् भवन्ति. तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्त्वएव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति. सत्त्वे इति सांख्यमतानुसारेण उक्तम्. वस्तुतस्तु "गुणातीते

भगवति स्वाभाविकी वृत्तिः'' इति भगवच्छास्त्रम्. ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'' (भाग.पुरा.११।२५।२४) ''हरिः हि निर्गुणः साक्षात्'' (भाग.पुरा.१०।८५।५) इत्यादिवाक्यैः सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा. एवकारो राजसतामसव्युदासार्थः. एकमनसः इति, एकमेव मनो यस्य. मनोऽपि द्विविधम्, दैवासुरविभेदेन. तत्र आसुरं संकल्पविकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैः च क्षोभम् एति. दैवन्तु एकस्वभावापन्नं मननात्मकमेव. इन्द्रियाणितु उभयविधान्येव भवन्तु नाम कार्यमेव आसुराणां बाध्यते. मनसातु द्वितीयेन न भाव्यमेव, तथा सति इन्द्रियाणां पूर्वोक्ता वृत्तिः न स्यात्. अतः एकम् एकस्वभावापन्नं मनो यस्य, तस्यैव भक्तिः. अन्येषान्तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिः अक्षयत्वाद् बहुभिः जन्मभिः पुष्टिं गता, अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपां वृत्तिं जनयिष्यतीति, न कापि अनुपपत्तिः. वृत्तिः तन्निष्ठता, नतु ग्रहणमात्रम्. सापि वृत्तिः औत्पत्तिकी; यथा प्रह्लादस्य, अन्येषां वा भक्तानाम्. एतावद् दूरे न अस्मिन् जन्मनि साधनसाध्यता किन्तु पूर्वजन्मवशादेव एवंभूतो भवति. अग्रे विशेषं वक्तुं शब्दम् आह. जन्मान्तरेण व्यवधानात् पूर्वजन्मवृत्तिः 'यत्'शब्देन परामृश्यते.

फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति, स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा. भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्तिः भवतीति उत्तरेण सम्बन्धः. किञ्च सा चेद् भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति, भगवद्भावं वा षड्गुणरूपताम् आपद्यते. पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः, सैव जन्मान्तरे भागवती भवति इति वा. पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिः निरूपिता, तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते मुक्तिः भवतीति तस्य च ब्रह्मविदो जीवतो, म्रियमाणस्य, गच्छतः, संगतस्य च व्यापाराः निरूपिताः. सद्योमुक्तावपि सायुज्यं निरूपितम्. तद् वस्तुतो भक्तानामेव भवति इति सिद्धान्तः, प्रकारान्तरेण प्राप्य अभिव्यक्त्यभावात्. तथापि मुक्तेः सायुज्यादपि इयं भक्तिः गरिष्ठा इति आह सिद्धेः गरीयसी इति. सिद्धिः पूर्वोक्ता. गरीयस्त्वं निरूपयति जरयति इति, या कोशं लिंगशरीरं जीर्णं करोति. बीजात्मकम् इति अन्ये. यद्यपि सिद्धावपि कोशजीर्णता

वर्तते, तथापि आशु जरयति. अनायासार्थं दृष्टान्तः निगीर्णम् अनलो यथा इति. नहि भुक्तकवलस्य परिपाकार्थम् औदर्याग्नेः अन्यत् साधनं विधीयते, औषधादिकमपि अग्निमेव उद्बोधयति. एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः ॥३२-३३॥

अनुवाद : अब भक्तिका लक्षण दे रहे है **देवानां**...इन दो श्लोकके द्वारा. उस भक्तिका पूर्ण परिकर आगे ग्यारह श्लोकोंसे निरूपित किया जायेगा. **एक ही मनवाले** पुरुषकी सभी इन्द्रियोंकी **सत्त्वमूर्ति** भगवान्के लिये **जो स्वाभाविकी वृत्ति वह 'भक्ति'**. इन्द्रियाँ स्वभावसे द्विविध होती हैं **"द्वया ह प्राजापत्याः"** (बृह.उप.१।३।१) इस श्रुतिवचनमें निरूपित किया है. कुछ देवरूप और कुछ आसुररूप होती हैं. जिन इन्द्रियोंसे अलौकिक वेदोक्त ही कर्म या ज्ञान होता है, वे देवरूप इन्द्रियाँ हैं. जिन इन्द्रियोंसे लौकिक कर्म इत्यादि उत्पन्न होते हो उनको आसुरी जानना. इन दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंमें आपसमें स्पर्धा होती है. उनमें आसुरी इन्द्रियोंके बलिष्ठ होनेसे देवरूप इन्द्रियाँ स्वयंके कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकती. आसुरी इन्द्रियाँ यदि आसन्योपासनाके द्वारा विषयासक्तिके दोषसे मुक्त हो जायें तो वे देवभावको प्राप्त कर सकती हैं. तब देवरूपोचित कार्य करनेमें समर्थ हो सकती हैं. ऋषिओंको तो बहुत जन्मोंका अभ्यास होनेके कारण और इन्द्रादि देवोंकी देवयोनि होनेसे ही इन्द्रियाँ देवरूप होती हैं; अथवा जो दैवी सम्पद्में जन्मे हो, उनकी देवरूप एवम् आसुररूप भी इन्द्रियाँ हो सकती हैं. एक ही इन्द्रियगोलकमें (चक्षुइन्द्रियके अधिष्ठान) दोनों रहती हैं. जो इन्द्रियाँ निषिद्ध कर्मोंसे संशयग्रस्त (ग्लानि प्राप्त करें) हो पाती हों, जैसे कि अपवित्र वस्तुको देख कर या कामिनिओंको देख कर वे इन्द्रियाँ देवस्वभाव होती हैं अन्य आसुरावेशी अन्यथा व्यवहार करती ही हैं. जब कि आसुरी इन्द्रियाँ होती हैं वे निषिद्ध या लौकिक में अनुरक्त रहती हैं. उनको हठात् शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त करनेपर भी वे परितुष्ट नहीं होतीं. भक्ति तो दैवी इन्द्रियोंसे

ही हो सकती है, आसुरी इन्द्रियोंसे नहीं. **'देव'**पदके द्वारा करणोंका निर्मित होना ध्वनित किया है. **गुणलिंगानाम्** इस पदको समझानेके लिये लक्षण कहते हैं, गुणरूपादि जिनके द्वारा जाने जाते है, अर्थात् गुण है चिन्ह जिनका. यह दैवी इन्द्रियोंका लक्षण है. ऐसी इन्द्रियोंमें लय या विक्षेप की बाधा नहीं होती. विक्षेप न होनेके कारण कार्यकी प्रवृत्तिमें स्पष्ट रीतसे अनुभवमें (इन्द्रिय) नहीं आती. वैसे ही लय भी नहीं होनेके कारण इतनी मूढ़ नहीं हो जाती कि पदार्थको गृहीत ही न कर पाती हों. फिरभी चक्षु रूपमात्रका ग्रहण करती है इसलिये 'चक्षु है' ऐसा जाना जाता है. इसी तरह अन्य इन्द्रियोंको जाना जाता है. इन्द्रियाँ ऐसी क्यों होती हैं उसका हेतु कहते हैं **आनुश्रविककर्मणाम्** गुरुके उच्चारणके अनन्तर जो सुना जाता है उसे 'अनुश्रव' = वेद कहते है. वेदद्वारा कहे गये कर्मोंको 'आनुश्रविक' कहा जाता है. ऐसे आनुश्रविक कर्मोंमें ही जो इन्द्रियाँ प्रवृत्त रहती हों वे दैवी होती हैं. लोकमें केवल दर्शनादि मात्रका कर्म करती हैं. अनुरक्त नहीं होती. उनकी रुचि तो वैदिक कर्मोंमें ही होती है. दैवयोगसे जिनकी इन्द्रियाँ ऐसी होती हैं वे भक्ति कर सकते हैं. और ऐसी इन्द्रियाँ भी कर्म योग या ज्ञानादि ऐसे अनेक कर्मोंमें पूर्ववासनाके कारण अभ्यासवश प्रवृत्त होती हैं. पर कभी उनकी भी यदि फलावस्था होती है तो **सत्त्वमें ही** अर्थात् शुद्धसत्त्वरूप भगवत्स्वरूपमें ही स्वभावसे प्रवृत्त होनेमें समर्थ हो पाती हैं. **सत्त्व** तो सांख्यमतके अनुसार कहा है, वास्तवमें तो **''गुणातीत भगवान्में स्वाभाविकी वृत्ति''** यह भगवच्छास्त्रके अनुसार भक्तिका लक्षण है **''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्''** (भाग.पुरा.११।२५।२४) **''हरिः हि निर्गुणः साक्षात्''** (भाग.पुरा.१०।८५।५) इत्यादि वचनोंके आधारपर भगवान्की सर्व सामग्री निर्गुण है. **एव** पदके प्रयोगसे भगवान्की राजसी एवं तामसी मूर्तिओंके ध्यानको व्यावर्तित किया. **एकमनसो** का अर्थ है जिसका मन एकरूप है. मन भी दो प्रकारके होते है, दैवी और आसुरी के भेदसे. उनमें आसुरी मन संकल्प-विकल्पात्मक होनेसे नाना भावोंसे युक्त होता है और प्रकृतिके गुणोंसे क्षुब्ध भी.

और दैवी मननात्मक होता है, मन एक ही स्वभाववाला होता है. इन्द्रियाँ भले दो प्रकारकी हों पर मन दो प्रकारका नहीं होना चाहिये. क्योंकि आसुरावेशी इन्द्रियोंका बाध जरूरी है. अन्यथा इन्द्रियोंसे भक्ति नहीं हो सकेगी. अतः मन स्वभावसे **एक** प्रकारका होना चाहिये. एकस्वभावापन्न जिसका मन होगा तब भक्ति शक्य होगी. अनेक स्वभाववाले मनसे भगवान्‌के लिये यथाकथञ्चित् की जाती खण्डशः वृत्ति अक्षय होनेके कारण अनेक जन्मोंके द्वारा पुष्टिको प्राप्त होनेसे अन्तिम जन्ममें भक्तिके रूपमें फलित होती है. अतः कोई भी अनुपपत्ति नहीं है. **वृत्ति** अर्थात् एकनिष्ठा, केवल ग्रहणमात्र नहीं. वह वृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिये; जैसे प्रह्लाद या अन्य भक्तों की थी. अनेक जन्मोंके बाद इस जन्ममें वह (भक्ति) साधनसाध्य नहीं होती किन्तु पूर्वजन्मोंकी वृत्ति ही सहज स्वभावरूपमें फलित होती है. अनेक जन्मोंके अन्तराय होनेसे पूर्वजन्मकी वृत्ति ही यहां **या** पदसे कही है.

फलरूप जन्ममें वह अनिमित्त होती है. स्वतन्त्र या भगवन्निमित्त होती है. भगवान्‌से प्राप्त होते फल या निमित्त हो ऐसी, कोई भी निमित्त बिनाकी भक्ति होती है. और वह **भागवती** होती है, अर्थात् भगवान्‌को (भक्तिका) विषय बनानेवाली अथवा भगवद्‌भाव या भगवान्‌के षड्‌गुणोंवाली हो जाती है. पहले सत्त्वरूप देव विष्णुमें जो वृत्ति थी वही जन्मान्तरमें **भागवती** हो जाती है. पञ्चाग्निविद्यामें ज्ञानोपयिक देहकी सिद्धिका निरूपण किया है. उस देहमें ज्ञान उत्पन्न होनेसे मुक्ति मिलती है. वैसे ब्रह्मज्ञानकी चार अवस्था हैं, (१) जीवितावस्था, (२) म्रियमाणावस्था, (३) परलोकगतावस्था और (४) उनके व्यापार. सद्योमुक्तिमें भी सायुज्यका निरूपण किया गया है. वास्तवमें यह मुक्ति भक्तोंकी ही चार अवस्थाएं हैं, ऐसा सिद्धान्त है, प्रकारान्तरसे मुक्तिमें जो प्राप्त होता है उसकी अभिव्यक्ति होती नहीं है. फिर भी मुक्ति या सायुज्य से यह भक्ति श्रेष्ठ है. इसलिये **सिद्धेः गरीयसी**

ऐसा कहा. सिद्धिका तो पहले निरूपण किया. अब गरीयताका निरूपण करते हैं. **जीर्ण कर देती है. जो कोश** लिंग शरीरको जीर्ण कर देती है. यद्यपि सिद्धिमें भी कोशकी जीर्णता है, भक्ति तो बिना किसी प्रयत्नसे **शीघ्र ही** कोशको जीर्ण कर देती है. वहां अनायासार्थ द्रष्टान्त देते हैं **निगीर्णम् अनलो यथा** जैसे खाये हुए अन्नको पचानेके लिये जठराग्नि अन्य कोई साधन नहीं करती, औषधि आदि भी अन्तमें जठराग्निको ही प्रज्वलित करती है. ऐसी भक्तिके द्वारा मेरा पद प्राप्त होता है॥३२-३३॥

(भक्तोंकी साधनावस्था)

श्लोक :

न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद्
मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः ॥
ये अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥३४॥

अनुवाद : **मेरे लिये सभी चेष्टा करनेवालें, मेरे चरणोंकी सेवामें अभिरत रहनेके कारण मेरे साथ एकात्मता नहीं चाहते हैं. किन्तु ऐसे भागवत आपसमें मिल कर मेरे पराक्रमोंकी कथामें अधिक रुचि लेते हैं॥३४॥**

सुबोधिनी : **तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिव अग्रिमकृत्यम् आह प्रकारद्वयेन तत्र प्रथमम् आह त्रिभिः न एकात्मताम् इत्यादिभिः. जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परा सायुज्यं च तृतीयं स्याद् अतो न उत्क्रान्तिप्रापणे. तत्र प्रथमं भक्तानां साधनावस्थाम् आह : न एकात्मताम् इति. इयं हि फलरूपा भक्तिः ज्ञातव्या. ते भक्ताः यावद् जीवन्ति तावत् फलरूपां भक्तिं कुर्वन्ति इति अर्थः. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद् रसो अभिव्यक्तो भवति बहुधा. तस्याः अभिव्यक्तेः निदर्शनं, भगवतः एकात्मतां**

सायुज्यरूपं फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे. ते भक्तेषु विरलाः प्रसङ्गाद् निरूप्यन्ते. केचिद् इति दुर्लभाः. तेषां काय-वाङ्-मनोवृत्तिः स्वभावतएव भगवति भवति इति आह मत्पाद...इत्यादिना. मम पादसेवायामेव अभिरतिः मनोवृत्तिः येषाम्. सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यम् इति पद्भ्यां सेवा इति अर्थः. अन्यत्तु सुखं गमनानन्तरसाध्यम्. इयं मनोवृत्तिः निरूपिता. कायिकीम् आह मदीहाः इति. मत्सम्बन्धिन्येव ईहा = चेष्टा येषाम्. तेषां वाचनिकीम् आह अन्योन्यतः इति. सर्वे भागवताः एकरूपाः भगवदीयाः प्रसज्ज्य आसक्तिं कृत्वा, मम भगवतः, पौरुषाणि सभाजयन्ते. अन्योन्यम् उक्तानि अतिपौरुषाणि सम्मानयन्ति प्रकटं सुहृष्टाः स्वकार्य-निर्धार-विचारहेतौ प्रमाणम् एतद् गणयन्ति न अन्यत्. तेषां फलावस्थाम् आह॥३४॥

अनुवाद : भक्तिकी साधनावस्थाके बारेमें कह रहे हैं. ऐसे भक्त भक्तिके कारण क्या करते हैं वह जैसे ज्ञानियोंके बारेमें दो प्रकारसे कहा गया है वैसे दो प्रकार बता रहे हैं. उनमें पहला प्रकार **न एकात्मतां** इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहते हैं. जीवित भक्तोंकी १. साधनावस्था २. फलावस्था ३. सायुज्यावस्था. अतः उनकी (भक्तोंकी) उत्क्रमणावस्था और प्रापणावस्था नहीं होती. पहले भक्तोंकी साधनावस्था कहते हैं कि भक्तिकी फलावस्थाको प्राप्त करनेवाले मेरे साथ एकात्मताकी स्पृहा नहीं रखते. ऐसे भक्त आजीवन मेरी फलरूपा भक्ति ही करते हैं. जब भगवद्भजनमें रसानुभूति होती है तब फलरूपता प्रकट हुयी ऐसा जानना चाहिये.

उस रसानुभूतिकी अभिव्यक्ति भगवान्के साथ एकात्मता अर्थात् सायुज्यरूप फलके लिये, प्रार्थना तो दूर किन्तु उसकी स्पृहा भी न होना (रसानुभूति) है. ऐसे भक्त विरले ही होते हैं. अतः दुर्लभ हैं. ऐसे भक्तोंकी काया वाणी और मन उनके स्वभावके कारण ही भगवान्में तत्पर हो जाते हैं. मेरे चरणोंकी सेवामें ही जिनकी मनोवृत्ति अभिरत रहती है. कहीं भी भगवत्कार्योंके लिये अपने पैरोंसे जा

कर सेवा करनेका आग्रह रखते हैं क्योंकि सब सुख तो वहाँ जानेसे ही प्राप्त होता है ऐसी उनकी मनोवृत्ति होती है. ऐसे भक्तोंकी कायिकी चेष्टा भी मेरे लिये होती है. वाचिक चेष्टा भी, मेरी कथाओंका आपसमें मिल कर गान करते हैं. एक-दूसरेसे मेरी अलौकिक कथाको प्रमाण मानके अपना कर्तव्य निर्धारित करते हैं. साधनावस्थानिरूपणके बाद आगे फलावस्थाका निरूपण करेंगे॥३४॥

(भक्तोंकी फलावस्था)

श्लोक :

पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस-
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि॥
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥३५॥

अनुवाद : **वैसे भक्तोंको मेरे रुचिर कर्णाभूषण और अरुणलोचन से युक्त प्रसन्नमुखवाले वरप्रद दिव्यरूपोंका दर्शन होता है. तथा भगवान्के साथ अपनी चाही गई वाणीमें बात-चीत करते हैं॥३५॥**

सुबोधिनी : **पश्यन्ति इति. ते मे रूपाणि पश्यन्ति, निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति प्रथमतः पश्यन्ति. भगवतो रूपाणि वर्णयन्ति रुचिराणि अवतंसानि कर्णाभरणानि येषाम्. अनेन वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवति इति उक्तम्. प्रसन्नानि वक्त्राणि, अरुणानि लोचनानि येषाम् इति राममिव नृसिंहमिव पश्यति इति अर्थः. तेषाम् इष्टोत्पादनार्थं राजसभावम् इष्टानां स्थित्यर्थञ्च सात्त्विकभावं प्रकटयन्ति इति वा. रूपाणि इति परमोपासकानाम् एकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति, तेषान्तु बहूनि. तानि च दिव्यानि लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि. अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति, तान् प्रत्येव प्रकटानि इति. तथा सति न अतिप्रसक्तिः. तेषाम् अन्यदीयव्यावृत्यर्थं निदर्शनान्तरम् आह वरप्रदानि इति. नहि अन्येन वरं दातुं शक्यते, प्रसन्नाद् रूपाद् एतेषां**

वैलक्षण्यम् आह साकं वाचम् इति. जीवन्तएव एते एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीयां वाचं वदन्ति, यथा मित्रैः सह इष्टालापाः क्रियन्ते. ततः तेषां सायुज्यम् आह तैः इति॥३५॥

अनुवाद : वे भक्त मेरे रूपोंका दर्शन करते हैं, निरन्तर भगवत्साक्षात्कार भी होता है. जैसे दो मित्र एक-दूसरेको देख सकते हैं वैसे भगवान्का दर्शन करते हैं. भगवान्के अनेक रूपोंका वर्णन करते हैं. उनमें रुचिर कर्णाभरणवाला रूप है. इससे यह सूचित होता है कि वृन्दावन आदिमें भगवान्का साक्षात्कार होता है. भगवान्के रूपोंमें जैसे मुखके ऊपर प्रसन्नता और लोचनमें लालिमा झलकती है वैसे राम या नृसिंह की तरह दर्शन करते हैं ऐसा सूचित किया. उनकी इष्टसिद्धिकी पूर्तिके लिये राजसभाव और वे इष्टपदार्थोंकी स्थितिके लिये सात्त्विकभाव सूचित किया. परमोपासक किसी एक रूपका ही कदाचित् साक्षात्कार कर सकता है परन्तु ऐसे भक्तोंको तो अनेक रूपोंका साक्षात्कार होता है. ऐसे भक्तोंको तो अनेक दिव्य रूपोंका साक्षात्कार होता है क्योंकि लौकिक बुद्धिसे इन रूपोंका दर्शन नहीं करते. यह दिव्य रूप उनके सामने ही प्रकट होनेसे भक्त भी अलौकिकभावोंको प्रकट करते हैं. ऐसे भक्त अनन्य भगवदीय हो जाते हैं. यह जतानेके लिये भगवद्रूपोंका वरदायी रूपोंकी तरह निदर्शन किया है. अन्य कोई भी भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये वरदान नहीं दे सकते. प्रसन्नरूपोंसे भी इन भगवद्रूपोंकी विलक्षणता बताते हैं कि वर्तमान शरीरसे ही इस लोकमें भगवान्के साथ बात-चीत करते हैं. जैसे मित्रोंके साथ प्रेमभरी बातें की जाती हैं. इसके बाद भक्तोंकी सायुज्यावस्था बताते हैं॥३५॥

(भक्तोंका सायुज्य)

श्लोक :

तैः दर्शनीयावयवैर् उदार-

विलास-हासेक्षित-वामसूक्तैः ॥
हृतात्मनो हृतप्राणान् च भक्तिः
अनिच्छतो मे गतिम् अण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥३६॥

अनुवाद : दर्शनीय अवयवों और उदार विलास हासपूर्वक अवलोकन, मनोहर वाणीद्वारा, भक्तोंके अन्तःकरण और प्राण भगवान्के रूपमें वशीकृत हो जाते है, यद्यपि भक्तोंकी इच्छा नहीं होती फिर भी ऐसी भक्ति भगवान्में सूक्ष्मगति प्रदान करती है ॥३६॥

सुबोधिनी : तैः इति, पूर्वोक्तरूपैः अनुभवसमयएव आनन्दजनकैः. दर्शनीयाः अवयवाः येषाम्. उदारो विलासः, हासपूर्वकम् ईक्षितं, वामं मनोहरं सूक्तं वाक्यं च येषाम्. तैः हृतान्तःकरणानां वशीकृतेन्द्रियाणाञ्च सा पूर्वोक्ता भक्तिः, ताम् अनिच्छतोऽपि अण्वीं गतिं सायुज्यं प्रापयति. भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतूरूपत्वं च साध्यते. तत्र दर्शनीयाः अवयवाः कामपूरकाः, उदारो विलासो अर्थजनकः, हासपूर्वकम् ईक्षितं धर्मजनकं, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिद्ध्यति, अतो दर्शनीय... इति विशेषणं बहिः अलौकिकसौन्दर्यार्थम्. विलासो हि अर्थस्य नानाप्रकारत्वाय. उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय. भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनी इति भगवत्त्वम्. हासो देहादौ अध्यासजनकः, अन्यथा निरन्तरं धर्मो न सिद्ध्येत्. हासपूर्वकं च ज्ञानं धर्मजनकमेव. सूक्तं हितकारि, अविद्यानाशकम्. वामं परमानन्ददायकम् इति. सूक्ष्मा हि गतिः एकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएव अनिच्छा, अतएव अन्तःकरणेन्द्रियाणाञ्च तैः आकर्षणं, सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात्. सः भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति. तेतु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति. भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनाम् अगम्यम् अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति. एवं सायुज्यरूपं फलम् उक्त्वा सालोक्यादिरूपं फलम् आह ॥३६॥

अनुवाद : अनुभवकालमें ही आनन्द-दायक ऐसे वर्णित रूपोंके अवयव दर्शनीय होते हैं. विलास उदार होता है. हास्यपूर्वक भगवान् भक्तोंको निरखते भी हैं और वचन भी मनोहारी बोलते हैं. इन सब कारणोंसे भक्तोंका अन्त:करण अर्थात् सभी इन्द्रियाँ भगवान्के वशीभूत हो जानेके कारण ऐसी भक्ति भक्तोंको; सायुज्यरूपा सूक्ष्मगति अच्छी लगे कि नहीं लगे फिर भी, प्रदान कर देती है. भक्तोंके चारों पुरुषार्थ सिद्ध करनेके लिए यहां भगवान्के चार रूपोंके चार गुणधर्म वर्णित किये हैं. : १. दर्शनीय अवयव भक्तोंका कामपुरुषार्थका साधक बन जाता है. २. उदार और विलास हास अर्थपुरुषार्थसाधक बन जाता है ३. सहास भक्तोंको देख कर धर्मपुरुषार्थ साधक बन जाता है और ४. मनोहर वचन मोक्षपुरुषार्थके साधक बन जाते हैं. किसी कामका आधार विषयका सौंदर्य और सौंदर्यकी मजा लेनेकी अन्त:शक्तिके कारण पूर्ण होता होनेसे 'दर्शनीय' विशेषण बाह्य अलौकिक सौंदर्यका निरूपण करते हैं. नाना प्रकारके विलास, अर्थके नाना प्रकार होनेके कारण उदारता सभी बातोंमें उपकारक हो जाती है. भगवान्की लीला सभी लोगोंके लिए सब पुरुषार्थोंकी साधिका होनेसे भगवद्रूपा होती है. भगवान्का हास्य देह आदिमें अध्यास प्रकट करनेवाला होता है. अन्यथा देहाध्यास छूट जानेसे धर्माचरणमें नैरन्तर्य नहीं निभ सकता. इसीसे सहास ज्ञान धर्मजनक बन जाता है. भगवान्के सूक्त = वचन हितकारी होनेसे अज्ञानका निवारण करते हैं. वाम = परमानन्ददायक होता है. सूक्ष्मगति एकरूप आनन्द स्वरूप होती है. और रूपों, अनन्त आनन्दरूप होते हैं. इस कारण भक्तोंको सायुज्यकी इच्छा नहीं होती है. इससे इन्द्रियोंका आकर्षण अर्थात् सभी इन्द्रियोंके लिए सुखरूप हो जाता है. ऐसे भगवान् जब स्वधाम पधारना चाहें तब भक्तोंकी इन्द्रिय और मन साथ ले जानेके कारण अन्तत: भक्ति निष्फल नहीं होती. इसीसे कालादिसे अगम्य अतिसूक्ष्म ऐसा भगवदात्मक सायुज्य भक्तोंको प्रदान कर देती है. अब सायुज्यके बादमें सालोक्यादि फल कह रहे हैं॥३६॥

(भक्तोंके सालोक्यादि फल)

श्लोक :

अथो विभूतिं मम मायाविनः
ताम् ऐश्वर्यम् अष्टाङ्गम् अनुप्रविष्टाम्॥
श्रियं भागवर्ती वा अस्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे ते अश्नुवते नु लोके॥३७॥
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मे अनिमिषो लेढि हेतिः॥
येषाम् अहं प्रिय आत्मा सुतः च
सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम्॥३८॥

अनुवाद : मायावी भगवान्की विभूति, अष्टविध ऐश्वर्य उसमें भी श्रेयस्साधिका भागवती श्रीकी स्पृहा न रखनेवाले भक्त परमेश्वरके लोकमें उन्हें मिल कर आनन्द ले सकते हैं. हे शान्तरूपवाली मेरी माता! अथवा तो, शान्त वैकुण्ठलोकमें जो मेरेमें तत्पर हो उनका कभी नाश नहीं होता. कालचक्र कभी उनको अपना ग्रास नहीं बनाता है. क्योंकि उनका प्रिय आत्मा पुत्र मित्र गुरु शुभानुध्यायी देवता अथवा फल सभी मैं ही बन जाता हूं॥३७-३८॥

सुबोधिनी : अथो इति. सा चेद् भक्तिः मध्यमा भवेत्, ततो अयं, भिन्नप्रक्रमः अथो मम मायाविनो विभूतिं पुत्रधनादिरूपां स्वर्गादिरूपाञ्च. न तत्र भोग्यम् अस्तीति मायाविनः इति उक्तम्. सर्वस्यापि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय षष्ठी. ताम् इति अलौकिकीं सर्वलोकप्रसिद्धां वा ऐश्वर्यम् अणिमादि, अष्टाङ्गानि यस्य इति सर्वैश्वर्यप्राप्तिः. भगवद्भजनम् अनु भगवन्तम् अनुप्रविष्टां श्रियं सर्वामेव सम्पत्तिं मोक्षपर्यन्ताम्. भागवर्तीं भगवत्कृतसम्पत्तिं च वा इति अनादरे. सर्वमेव वा अस्पृहयन्ति भद्रां मोक्षसम्पत्तिमपि. मध्यमा भक्तिः फलम् अवश्यं प्रयच्छतीति, यदि अन्यत्र

तेषां भोगो न रोचते तदा वैकुण्ठएव तेभ्यो भोगं प्रयच्छति इति आह परस्य मे ते अश्नुवते नु लोके इति. परस्य कालाद् अक्षरात् च. लोके व्यापिवैकुण्ठे सर्वमेव ऐश्वर्यादिकम् अश्नुवते इति अर्थः ॥३७॥

ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात् "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (भग.गीता ९।२१) इति स्वस्थानत्यागात्, किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन ? इति आशङ्क्य आह...शान्तं रूपं यस्य इति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा. अहमेव परो येषां ते न नङ्क्ष्यन्ति क्षीणपुण्याः नश्यन्ति पतन्ति वा. न वा हेतिः कालचक्रं तान्...भक्षयति. तत्र हेतुः...कालस्य यत्र विषयः तत्र प्रवर्तते. तस्य अष्टौ विषयाः भवन्ति : १. विषयाः २. देहः ३. पुत्राः ४. मित्राणि ५. गुरवः ६. सम्बन्धिनः ७. इष्टदेवता ८. कामः इति. तस्मिन् लोके न एते सन्ति किन्तु एतेषां कार्यम् अहमेव करोमि. अतएव तेषाम् अहमेव अष्टविधः. नहि कालो मां विषयीकरोति. तेषां मदन्यः कोऽपि न अस्ति देहादिः. प्रियो हि विषयो भवति. वैकुण्ठस्तु मद्रूपइति तत्र अहमेव विषयः. सारूप्यस्य च प्राप्तत्वाद् देहोऽपि अहमेव. देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृतिः सूयतइति सुताः भवन्ति. तत्र विषयभोगेनाऽपि अहमेव भवामि, पुत्रस्नेहः तत्र मय्येव क्रियते. तत्र बाह्योऽपि सखा अहमेव, तत्रत्यानां पुरुषाणां मद्रूपत्वात्. एते चत्वारः ऐहिकाः. पारलौकिकाः चत्वारः. तत्र गुरुः उपदेष्टा वैकुण्ठेतु अहमेव. गुरोः उपदेशानन्तरं ये तत्र हितार्थं यतन्ते, ते बान्धवाः सुहृदः सुहृत्कार्यन्तु तत्रत्यैरेव क्रियतइति. दैवं देवता पूज्यः फलदाने सः प्रयोजकः. फलञ्च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचितएव ॥३८॥

अनुवाद : यह भक्ति यदि मध्य कक्षाकी हो तो घटनाक्रम बदल जाता है. भगवल्लोकमें मायावी भगवान्की विभूति ऐसे पुत्र आदि अथवा स्वर्ग आदि का भोग नहीं मिलता पर भगवदीयोंके तो सभी विषय भगवान्के अधीन होते हैं. वह इसलिए क्योंकि अलौकिक अथवा सर्वलोकमें प्रसिद्ध ऐसी ऐश्वर्यादि अष्टविध सिद्धि मोक्ष तककी,

वह भगवद्भजनके पीछे-पीछे अवांछित चलते रहनेके कारण अन्यत्र भक्तोंको विषय-भोग अच्छा नहीं लगता हो तो भी, वैकुण्ठलोकमें प्रदान करती है. काल अथवा अक्षर से पर ऐसे भगवान्‌के व्यापी वैकुण्ठलोकमें सभी प्रकारके ऐश्वर्यादिका भक्त उपभोग करता है. यहां आशंका होती है कि कोई भी लोकमें जाओ अन्तमें तो कालके भयसे मुक्त तो नहीं ही होता, जैसा कि कहा है **"पुण्यक्षीण होते ही जीव स्वर्गलोकमेंसे पुनः मृत्युलोकमें आ जाता है."** इससे स्वयंका स्थान छुड़ा कर वैकुण्ठ लोकके विषयोंका अनुभव प्राप्त करानेसे लाभ क्या है? उसके उत्तरमें कहते हैं कि वह शान्त सभी दोषोंसे रहित ऐसे वैकुण्ठलोकमें भक्तोंको भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई तत्त्वकी आवश्यकता रह ही नहीं जाती. ऐसे भक्तोंका कभी नाश अर्थात् पुण्य क्षीण होनेसे नाश या पतन हो ही नहीं सकता. कालचक्रका भी वे कभी ग्रास नहीं बनते हैं. उसका कारण यह है कि कालका प्रभाव जहां चलता है ऐसे आठ विषयहोते हैं : १. विषय २. देह ३. पुत्र ४. मित्र ५. गुरुजन ६. सगे-सम्बन्धी ७. इष्टदेवता ८. काम. इसमेंसे वैकुण्ठमें तो कोई भी होता नहीं है इसलिए उसकी जो भी आवश्यकता होती है वह भगवान् ही पूरी करते हैं. इस कारण वैकुण्ठ-स्थित भक्तोंके लिए भगवान् ही अष्टविध हो जाते हैं. काल भगवान्‌को तो अपना विषय बना नहीं सकता और भक्तोंके लिए भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ होता नहीं है. विषय प्रिय लगते हैं पर वैकुण्ठ तो भगवद्रूप होनेसे भगवान् ही वहां विषयरूपसे विद्यमान होते हैं. भक्तोंको सारूप्य प्राप्त होनेसे उनके देह भी भगवान् ही होते हैं. देहोंसे विषयके उपभोगके कारण प्रकृतिसे प्रसव होनेके कारण पुत्र उत्पन्न होते हैं. वैकुण्ठमें विषयभोगके रूपमें भगवान् ही होते हैं इसीसे पुत्रोचित स्नेह वहां भक्त, भगवान्‌में ही रखते हैं. बाह्य सखा भी वहां भगवान् ही होते हैं, वहांके सभी निवासी भगवद्रूप होनेके कारण. यह चार लौकिक हुए. वैसे ही दूसरे चार पारलौकिकमेंसे उपदेशकर्ता गुरुकी गरज मैं ही पूर्ण करता हूँ. गुरुके उपदेश ग्रहणके

बाद उसके अनुसार हितसाधनके प्रयत्न करनेवाले सगे प्रिय भी वैकुण्ठमें सभी भगवद्रूप होते हैं. पूज्यदेवता भी वैकुण्ठमें भगवान् ही होते हैं, इससे फलदान जो कुछ हो वह भगवान् तक ही जाता है. फल अर्थात् जिसकी भक्तोंको अभिलाषा हो वह भी भगवान् ही होनेके कारण. वैकुण्ठमें किसीका कभी नाश नहीं होता है॥३७-३८॥

(सफलभक्तिका निरूपण)

श्लोक :

इमं लोकं तथैव अमुम् आत्मानम् उभयायिनम्॥
आत्मानम् अनु ये च इह ये रायः पशवो गृहाः॥३९॥
विसृज्य सर्वान् अन्यान् च माम् एवं विश्वतोमुखम्॥
भजन्ति अनन्यया भक्त्या तान् मृत्योः अतिपारये॥४०॥
न अन्यतो मद् भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्॥
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते॥४१॥
मद्भयात् वाति वातो अयं सूर्यः तपति मद्भयात्॥
वर्षति इन्द्रो दहति अग्निर् मृत्युः चरति मद्भयात्॥४२॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः॥
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्ति अकुतोभयम्॥४३॥
एतावानेव लोके अस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः॥
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मयि अर्पितं स्थिरम्॥४४॥

अनुवाद : इस लोक अथवा परलोक में संचरण करनेवाली जीवात्मा और उसके साथ जुड़े हुए जो धन पशु गृह इत्यादि ऐसे दूसरे भी सभीका त्याग करके विश्वतोमुख भगवान्का जो अनन्यभक्तिसे भजन करता है उसे भगवान् मृत्युके बन्धनमेंसे मुक्त कर देते हैं. प्रधान और पुरुष दोनोंके ईश्वर ऐसे भगवान्के अतिरिक्त दूसरे सभी भूतोंसे उद्भव होता तीव्र भय निवृत्त नहीं होता है. वायु भी भगवान्के भयके कारण बहता है, सूर्य भी भगवान्के

भयके कारण तपता है. अग्नि अथवा इन्द्र जो जलाता है अथवा वर्षा करता है, वे भी भगवान्‌के भयके कारण. मृत्युदेव भी भगवान्‌के भयके कारण सभीके प्राण हरता है. इसी कारण योगीजन ज्ञान और वैराग्य युक्त भक्तियोगके द्वारा उनका कल्याण हो ऐसे आशयसे भगवान्‌के अकुतोभय चरणकमलोंका सहारा लेते हैं. अतः इस लोकमें पुरुषोंका निःश्रेयस् तीव्र भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌में स्वयंके मनको अर्पित और स्थिर करनेमें रहा हुआ है॥३९-४४॥

.....

सुबोधिनी : **...एवं भेदत्रयं निरूपितं सायुज्यं वैकुण्ठो जीवन्मुक्तिः.**

अनुवाद : ऐसे तीन प्रकारके प्रभेदद्वारा फलात्मिका भक्तिको वर्णित किया : १. सायुज्य २. वैकुण्ठ ३. जीवन्मुक्ति.

।। श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ।।

(तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत)

।। कपिलगीता ।।

(छब्बीसवें अध्यायका विवरण)

(सांख्यका उपक्रम)

कारिका :

आत्मानात्मविवेकाय षड्विंशे साङ्ख्यम् उच्यते ।।
तत्त्वानां लक्षणानि अत्र निरुक्तिः च इयम् अत्र च ।।१।।
जीवब्रह्मविभागार्थं प्रक्रियाद्वितयं स्मृतम् ।।
संसारे मूलभावे च पुरुषः प्रकृतिर् मता ।।२।।

अनुवाद : छब्बीसवें अध्यायमें आत्मा और अनात्मा का प्रभेद समझानेके लिए सांख्यप्रक्रिया कही गयी है. यहाँ इन तत्त्वोंके लक्षण और उनकी निरुक्ति, जीव और ब्रह्म का विभाग समझानेके लिए है, क्योंकि जीवकी सांसारिक अवस्था और मूलस्वरूपके बीच रहे हुए भेदमें जो दो प्रक्रियाएं रही हुयी हैं, उनमें एकमें प्रकृति और दूसरेमें पुरुष हेतुभूत होते हैं ।।१-२।।

श्रीभगवान् उवाच

श्लोक :

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।।
यद् विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर् गुणैः ।।१।।

अनुवाद : श्रीभगवान्ने कहा, अब तुम्हें तत्त्वोंके अलग-अलग लक्षण बताता हुं कि जिनको जान कर पुरुष, प्राकृत गुणोंसे मुक्त हो सकता है ।।१।।

श्लोक :

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्य आत्मदर्शनम्॥
यद् आहुर् वर्णये तत् ते हृदयग्रन्थिभेदनम्॥२॥

अनुवाद : इस आत्मदर्शनका ज्ञान पुरुषके कल्याणके लिए कहा जाता है. उसका वर्णन मैं करूंगा, जिससे तुम्हारे हृदयमें रही हुयी ग्रंथियाँ खुल जायेंगी॥२॥

श्लोक :

अनादिर् आत्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः॥
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर् विश्वं येन समन्वितम्॥३॥

अनुवाद : पुरुष अनादि आत्मा सत्त्वरजस्तमो गुणोंसे रहित होनेके कारण प्रकृतिसे पर होता है. वह स्वयंज्योति प्रत्येकके भीतर ही इस प्रकार प्रकाशित होता है कि समग्र विश्व उससे समन्वित हो जाता है॥३॥

श्लोक :

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः॥
यदृच्छयैव उपगताम् अभ्यपद्यत लीलया॥४॥

अनुवाद : ऐसा यह विभु पुरुष, जब सूक्ष्म त्रिगुणमयी दैवी प्रकृति जो बिना किसी हेतुके नज़दीक आती है, तो उसे (पुरुष) लीलाभावसे स्वीकार लेता है॥४॥

श्लोक :

गुणैः विचित्रां सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः॥
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया॥५॥

अनुवाद : तब प्रकृति अपने गुणोंके वश अपनी ही तरह विचित्र प्रजाका सृजन करने लगती है, जिस प्रजाको देखते ही पुरुष तुरत ही मोहित हो जाता है क्योंकि वह प्रकृति उस पुरुषकी चेतनाको ढकनेवाली होती है।।५।।

श्लोक :

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैर् आत्मनि मन्यते।।६।।

अनुवाद : इस प्रकार वह पुरुष, परमात्माके द्वारा धारण किये प्रकृतिके रूपके अभिध्यानके कारण अथवा उसके गुणोंके कारण, किये हुए कर्मोंका कर्ता स्वयंको मानने लगता है ।।६।।

श्लोक :

तद् अस्य संसृतिर् बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।।
भवति अकर्तुर् ईशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः।।७।।

अनुवाद : इस कारण अपनेमें प्रतीत होता हुआ कर्तापना इस पुरुषकी संसृति है और यह ही उसकी पराधीनता या बन्धन भी बन जाता है. जब कि हकीकतमें तो पुरुष स्वतंत्र कर्तापनेसे रहित निजानन्दी साक्षिरूप होता है।।७।।

श्लोक :

कार्य-कारण-कर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्।।८।।

अनुवाद : कार्यकी उत्पत्ति, उत्पादकरूप कारण और कर्तापनेके रूपमें प्रकृतिको जानना चाहिये; और उसके फलरूप सुख-दुःखके

भोक्ताके होनेके रूपमें प्रकृतिसे पर ऐसे पुरुषको जानना चाहिये।।८।।

(प्रकृति-पुरुषके लक्षण)

देवहूतिः उवाच

श्लोक :

प्रकृतेः पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम!।।
ब्रूहि कारणयोर् अस्य सदसत् च यदात्मकम्।।९।।

अनुवाद : देवहूतिने कहा, हे पुरुषोत्तम! प्रकृति और पुरुष दोनोंके लक्षण बताईयें क्योंकि जो इस जगत्का कारण है और जो कुछ सत् अथवा असत् है वे सब प्रकृति-पुरुषरूप ही है.

श्रीभगवान् उवाच

श्लोक :

यत् तत् त्रिगुणम् अव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुर् अविशेषं विशेषवत्।।१०।।

अनुवाद : श्रीभगवान्ने कहा, जो नित्य अव्यक्त सदसदात्मक तीन गुणोंवाली प्रकृति, जो कि अविशेष और सविशेष भी है, उसे 'प्रधान' कहा जाता है।।१०।।

सुबोधिनी : यत् तदइति यत् पूर्वम् उक्तं, तद्एव एतादृशगुणविशिष्टं मूलप्रकृतिः भवति. यत् त्रिगुणं सा प्रकृतिः, सत्त्व-रजस्-तमोगुणाः यस्य मूलभूताः. यथा सच्चिदानन्दं ब्रह्म, क्रियाज्ञानानन्दाः धर्माअपि भवन्ति. तथा सच्चिदानन्दरूपं प्रधानम्, उद्गतास्तु अंशतो गुणाअपि भवन्ति. अव्यक्तं न केनापि प्रकारेण अभिव्यक्तं, कार्यमेव तस्य अभिव्यक्तं, न स्वयम् इति. नित्यं सदा एकरूपम्. सदसदात्मकं कार्य-कारणरूपम्. प्रधानं मुख्यम्. प्रकृतिम् इति लक्ष्यम्. प्राहुः इति प्रमाणम्. ब्रह्मवद् अविशेषं,

विशेषाः सर्वे गुणकृताः तस्याएव अतो विशेषवत्. प्रधानम् इति लक्षणम् एकमेव. प्रधानम् इति मुख्यं भगवता जगत्कारणत्वेन निर्मितं, तद्रूपं वा. तस्य जगत्कर्तृत्वनिर्वाहार्थं भगवतइव षड्गुणान् आह त्रिगुणादिषट्पदैः. त्रिविधा हि सृष्टिर् अन्यथा न भवेद्, यथा भगवतः ऐश्वर्यम्; अन्यथा समानेऽपि कर्मणि उच्चनीचगतयो न स्युः. मूलधर्माः एते सच्चिदानन्दाभासाः भगवतः उत्पन्नायां प्रतिष्ठिताः. एवं सत्येव मुख्यं भवति. यद्यपि एकैकमेव लक्षणं तथापि भगवत्वाय षड् उच्यन्ते. अव्यक्तम् इति द्वितीयम्. तस्यहि एवं सामर्थ्यं न केनापि अभिव्यक्तं भवति, अन्यथा कालादिना अभिव्यक्तौ अनित्यतायां पुनः सृष्टिः न स्यात्. सदा एकरूपम् इति कीर्तिः तस्य. यद् जीवप्रकृतिव्युदासार्थम् इति केचिद् आहुः तदुत्तराध्यायेन विरुद्धयते; नित्यत्वाद् उभयोरिति. सदसदात्मकम् इति श्रीः, तस्य एषा शोभा यत् सर्वात्मकम् इति. अविशेषम् इति ज्ञानहेतुः अन्यथा संसारिणो मुक्ताः न स्युः, तस्य सर्वकारणत्वात्. विशेषवद् इति सर्वे विशेषाः तदीयाः, न तस्य किञ्चिद् आश्चर्यकरम् इति वैराग्यहेतुः ॥१०॥

अनुवाद : जो, पहले बतायी गयी, वही इन समग्र गुणोंवाली मूल प्रकृति है. जो तीन गुणोंवाली है उस प्रकृतिके सत्त्व रजस् तमस् गुण मूलभूत हैं. जिस प्रकार ब्रह्म सच्चिदानन्द है, उसके धर्म क्रिया ज्ञान और आनन्द रूप भी होते हैं. वैसे परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप होता है परन्तु वही सत्ता चेतना और आनन्द के उद्गमके बाद आंशिकरूपसे गुण भी बन जाते हैं. **अव्यक्त,** जो किसी भी प्रकारसे अभिव्यक्त न हो. क्योंकि उसका केवल कार्य ही अभिव्यक्त होता है, वह स्वयं नहीं. **नित्य** = जो सदा एक रूप होता है. **सदसदात्मक** = जो कार्य-कारणरूप हो. **प्रधान** = मुख्य. **प्रकृति** = जिसका लक्षण दिया जा रहा है वह. **कहा जाता है** = प्रमाण बताया. वह ब्रह्मकी तरह अविशेष होता है, क्योंकि उसके विशेष तो सभी गुणोंके कारण होते हैं और वह उसीके होनेके कारण सविशेष बनता है. **प्रधान** होना ही

एकमात्र लक्षण है. भगवान्ने जगत्के कारणरूपमें उसे प्रकट करनेके कारण, **प्रधान** = प्रमुख लक्षण माना है, अथवा वह भगवान्का ही लिया हुआ रूप है. वह प्रधान भगवान्के द्वारा लिया हुआ जगत्कर्ता होनेका रूप है. इसीलिए भगवान्की तरह उसके भी छह गुणोंका वर्णन किया गया है. **'तीनगुण'** ऐसे छह पदोंद्वारा. प्रधान यदि त्रिगुण न हो तो सृष्टि भी त्रिगुणात्मक नहीं हो पायेगी. जैसे भगवान्में ऐश्वर्य है, ठीक उसी प्रकार; नहि तो कर्म समान होनेके बावजूद कर्मके कारण कोईकी उच्च तो कोईकी अधोगति कैसे संभव हो सकती है? यह मूलधर्म है. ब्रह्मके सच्चिदानन्दका आभास करानेवाले भगवान्के द्वारा उत्पन्न किये हुए प्रधानरूपमें प्रतिष्ठित हो जानेवाले. ऐसा होनेके कारण ही यह मुख्य बनता है. यद्यपि एक-एक ही लक्षण है फिर भी भगवत्ता दरसानेके लिए छह कहे गये हैं.

'अव्यक्त' दूसरा लक्षण है. अभिव्यक्त न होनेकी प्रधान जैसी सामर्थ्य दूसरे कहीं भी नहीं दिखती. अन्यथा कालादिसे अभिव्यक्त होनेवाली सृष्टिमें अनित्यताके कारण पुनः सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती. सदा एकरूप होना प्रकृतिका कीर्ति जैसा गुण है... **सदसदात्मक** होना यह प्रधानका श्रीरूप गुण है, यह तो इसकी सच्ची शोभा है कि वह सर्वरूप होती है. **अविशेष** होनेके कारण मुक्ति ज्ञानका हेतु बनती है, अन्यथा संसारी जीव मुक्त ही नहीं होता, वह सभीका कारण होनेसे. **सविशेष** क्योंकि सभी विशेषों इसीके होनेके कारण, जो कुछ भी प्रकट हो रहा है, उसमें आश्चर्यजनक कोई भी बात न होनेसे अन्तमें तो यह प्रकृति वैराग्य प्रकट करनेवाली भी बनती ही है॥१०॥

(प्राकृत/प्राधानिक तत्त्वोंका निरूपण)

श्लोक :

पञ्चभिः पञ्चभिर् ब्रह्म चतुर्भिः दशभिः तथा॥

एतत् चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥११॥

अनुवाद : ऐसे प्रधानके लक्षणोंके बाद अब उस प्रधानसे प्रकट होनेवाले प्राधानिकका निरूपण करते हैं : पांच पांच चार और दस, ऐसे चौबीस तत्त्वोंके रूपमें प्रकट ब्रह्मात्मक गणोंको 'प्राधानिक' माना गया है॥११॥

सुबोधिनी : प्रधानं लक्षयित्वा प्राधानिकं निर्दिशति पञ्चभिः इति. प्राधानिकं गणं चतुर्विंशतिकं प्राहुः. चतुर्विंशतिभेदभिन्नम्. चतुर्विंशतीनां समुदायः प्राधानिको गणः. विदुः इति प्रमाणम्. चतुर्विंशतिसङ्ख्यासिद्धिः यैः, तानि आह गणशः पञ्चभिः पञ्चभिः ब्रह्म इति परिज्ञानार्थम्. एतत् चतुर्विंशतिभेदभिन्नं जगद् ब्रह्मैव. चतुर्भिः दशभिः इति. चतुर्णां प्रवर्तकत्वात् प्रथमं निर्देशः. साङ्ख्यशास्त्रत्वात् सङ्ख्ययैव पूर्तिः ॥११॥

अनुवाद : वेदान्तशास्त्रानुकूल प्रधानका लक्षण कह कर अब उस प्रधानके परिणामभूत कार्योंका निर्देश करते हैं, पांच इत्यादि. प्राधानिक गण चौबीस कहे जाते हैं, अर्थात् उनके चौबीस प्रभेद होते हैं. प्राधानिक गण चौबीस तत्त्वोंका समुदाय है. माने जाते हैं ऐसा कह कर इस बारेमें प्रमाण देते हैं. इस चौबीस संख्याकी गणना सिद्ध करनेके लिए, उन तत्त्वोंके गण दिखाते हैं. पांच पांच, ब्रह्मात्मक यह तत्त्वपरिज्ञानके लिए कहा गया है. यह चौबीस तत्त्व ब्रह्मके द्वारा लिए हुए चौबीस रूप हैं. चार और दस इसमें, चार तत्त्व सृष्टि प्रवर्तक होनेके कारण पहले इनकी गणना की जा चुकी है. तत्त्वोंकी संख्या न गिनायी जाये यह तो शास्त्र सांख्यशास्त्र ही न रह जायेगा॥११॥

श्लोक :

महाभूतानि पञ्चैव भूर् आपो अग्निर् मरुद् नभः ॥
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे॥१२॥

अनुवाद : संख्याकी गणनाके बाद उन प्राधानिक तत्त्वोंका नाम दरसाते हैं कि महाभूत तो पांच ही हैं. १. भूमि २. जल ३. अग्नि ४. वायु और ५. नभ. गन्धादि तन्मात्रा भी उतनी ही मानी गयी हैं॥१२॥

सुबोधिनी : तानि नामतो निर्दशति महाभूतानि इति. प्रथमं पञ्चसङ्ख्यापूरकाणि महाभूतानि. एवकारेण दिगादीनाम् आकाशादिषु अन्तर्भावः सूचितः. तानि गणयति भूः इत्यादि. अग्निः तेजः, अग्निरेव वा. सौरादीनि तेजांसि अग्नौ अन्तर्भवन्ति इति एके. भगवत्तेजः इति अपरे. मरुद् वायुः. नभः आकाशम्. तन्मात्राणि शब्दादीनि. तावन्ति पञ्चैव. स्वराः सर्वे शब्दमध्ये. गन्धादीनि गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः. मे मतानि इति अस्मत्सिद्धान्ते गन्धादीनां तन्मात्रत्वम्, अन्येषां मते गन्धादयो गुणाः भूतेभ्यः उत्पद्यन्ते भूतसमवेताः इति॥१२॥

अनुवाद : महाभूतोंकी नामतः गणनामें सबसे पहले पांच संख्यावाले तत्त्वोंकी गणना करते हैं. 'ही' द्वारा दिशा आदिका तत्त्वके रूपमें अस्वीकार बताया है. आकाश आदिमें उनका अन्तर्भाव सूचित किया. उन पांच तत्त्वोंकी गणना **भूमि** आदिसे दी. **अग्नि** तेज अथवा अग्नि ही. अतः सौरादि तेजका भी अग्निमें ही अन्तर्भाव समझना चाहिये... **मरुद्** = वायु. **नभ** = आकाश. **तन्मात्रा** शब्द आदि इस प्रकार पांच ही हैं. सभी प्रकारके स्वरोंका शब्दमें अन्तर्भाव जानना चाहिये. **गन्ध आदि** अर्थात् गन्ध रस रूप स्पर्श शब्द. मेरा मत यह है अर्थात् मेरे सिद्धान्तमें गन्ध आदि तन्मात्राएं हैं, दूसरोंके मतमें वे पांच तन्मात्राएं पंचमहाभूतोंसे उत्पन्न हुए ऐसे गुण हैं, जो पंचमहाभूतोंके भीतर रहते हैं॥१२॥

(इन्द्रियोंका निरूपण)

श्लोक :

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्-दृग्-रसन-नासिका॥

वाक्-करौ चरणौ मेढ्रं पायुर् दशम उच्यते॥१३॥

अनुवाद : अब दस इन्द्रियोंकी संख्याके बारेमें खुलासा दे रहे हैं. इन्द्रियाँ दस. श्रोत्र त्वचा नयन रसना नासिका (ज्ञानेन्द्रिय), वाणी कर चरण मेढ्र पायु (कर्मेन्द्रिय) दस कहलाती है॥१३॥

सुबोधिनी : दशसङ्ख्यां पूरयति इन्द्रियाणि इति. ज्ञानेन्द्रियाणि प्रथमं गणयति. श्रौत्रं शब्दग्राहकम्. त्वक् त्वगिन्द्रियम्. दृग् दृष्टिः चक्षुः इति यावत्. रसनेन्द्रियं, घ्राणेन्द्रियञ्च इति. वागादीनि कर्मेन्द्रियाणि. मेढ्रं गुह्यम्॥१३॥

अनुवाद : इन्द्रियोंकी संख्या १० गिन कर दिखाते हैं, इन्द्रियाँ ऐसे कह कर. उसमें ज्ञानेन्द्रियोंकी गणना प्रथम की गयी है. श्रोत्र = शब्दको ग्रहण करनेवाली. त्वचा = स्पर्श ग्रहण करनेवाली. नयन = रूपाकृति ग्रहण करनेवाली चक्षु. रसनेन्द्रिय = स्वाद ग्रहण करनेवाली और घ्राणेन्द्रिय = गन्ध ग्रहण करनेवाली. वाणी आदि कर्मेन्द्रिय हैं. मेढ्र = गुह्येन्द्रिय॥१३॥

(अन्तःकरणका निरूपण)

श्लोक :

मनो बुद्धिर् अहङ्कारः चित्तम् इति अन्तरात्मकम्॥
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया॥१४॥

अनुवाद : अब चार संख्यावाले तत्त्वोंकी गणना. १. मन २. बुद्धि ३. अहंकार और ४. चित्त. यह आन्तरेन्द्रियोंका संख्याप्रभेद लक्षणरूपसे दिया गया है. यह सारे लक्षण आन्तर वृत्तियोंके हैं॥१४॥

सुबोधिनी : चतुष्टयं गणयति मनो-बुद्धिः इति. ननु पर्यायाः एते इति आशङ्क्य आह अन्तरात्मकम् इति. एकमेव अन्तरात्मकम् अन्तःकरणं

मनोबुद्ध्यादिभेदेन चतुर्द्धा लक्ष्यते. एकस्य अनेकधा लक्षणे हेतुः लक्षणरूपया वृत्त्या भेदो लक्ष्यते इति. वृत्तिभेदाद् भेदः, वृत्तिः च लक्षणरूपा. व्यावर्तकंहि लक्षणं, सामान्यवृत्तेः भेदकत्वाभावात्॥१४॥

अनुवाद : मन और बुद्धि, यहां ऐसे विभाजनमें एक आशंका होती है कि ये तो सारे पर्यायवाची शब्द लगते हैं. उसका समाधान **आन्तरेन्द्रिय** कह कर देते हैं. अन्तःकरण तो एक ही होता है पर मनोबुद्धि आदिके प्रभेद चार प्रकारके होते हैं, उनका निरूपण किया गया है. एक तत्त्वके अनेक प्रकारसे लक्षण देनेमें हेतु, **लक्षण रूपी वृत्तियोंके कारण अलग-अलग लक्षित होने लगते हैं,** वृत्तिभेदके कारण प्रभेद है, पृथक्-पृथक् वृत्ति लक्षणरूपसे अवभासित होनेके कारण. अन्ततः लक्षणका प्रयोजन एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे जो व्यावर्तित रूप होता है, उसे दिखाना ही तो है. क्योंकि सामान्य वृत्तिसे तो भेद प्रकट हो नहीं सकता॥१४॥

(एकदेशियोंके मतानुसार कालका विचार)

श्लोक :

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मणः सगुणस्य ह॥
सन्निवेशो मया प्रोक्तो यः कालः पञ्चविंशकः॥१५॥

अनुवाद : **सगुण ब्रह्मका संख्यात्मक संनिवेश तो इतना ही है और मैं इतना ही कहना चाह रहा हुं पर कालकी गणना भी यदि तत्त्वके रूपमें करनी हो तो उसे पच्चीसवाँ तत्त्व मानना चाहिये॥१५॥**

सुबोधिनी : **ननु अयं चतुर्विंशति-भेदभिन्नो गणितो, अपरः च गणनीयः इति आशङ्क्य आह एतावानेव इति. सगुणस्य ब्रह्मणः एतावत्येव सङ्ख्या. शास्त्रे एतावानेव वा सङ्ख्यातः. सगुणस्य ब्रह्मणः सन्निवेशः सम्यग्**

निवेशो नाम असम्भावितान्यप्रवेशे स्वधर्मवत्तया निरूपणम्. ननु अस्ति कालो अधिकः तत्र आह यः कालः प्रोक्तः, सः पञ्चविंशकः प्राकृतएव इति अर्थः. प्रकृतेः प्रथमो भावः कालः, अन्यानि चतुर्विंशतिः इति॥१५॥

अनुवाद : इस प्रकार इन चौबीस संख्यावाले तत्त्वोंकी ही गणना की पर दूसरे तत्त्व क्या संभव नहीं हैं? उन तत्त्वोंकी गणना भी करनी चाहिये थी, ऐसी शंकाके समाधानके लिए कहते हैं कि सगुण ब्रह्मके रूपोंकी संख्या तो शास्त्रमें इतनी ही गिनायी गयी है. **सगुण ब्रह्मका संन्निवेश** = सम्यक् प्रकारसे निवेश अर्थात् दूसरे तत्त्वोंका समाविष्ट न कर सके उस प्रकार सगुण ब्रह्मका स्वयंके धर्मके रूपमें निरूपण (किया). यदि आप कहते हो कि इसमें काल तो छूट ही गया तो उसके बारेमें कहते हैं कि तो **कालको पच्चीसवाँ** तत्त्व समझो. जो प्राकृत तत्त्वोंकी तरह होते हुए भी प्राकृत नहीं है. क्योंकि प्रकृतिसे पहले ब्रह्म स्वयं कालरूपमें प्रकट होता है. उसके उपरान्त ही चौबीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं॥१५॥

श्लोक :

प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालम् एके यतो भयम्॥
अहंकारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिम् ईयुषः॥१६॥

अनुवाद : **यह वही काल है कि जिसके कारण पुरुष भयभीत रहता है! पुरुष जब प्राकृत अहंकारसे विमूढ़ हो कर प्रकृतिको पकड़ कर रखता है और उसके कारण अपने आपको कर्ता मानता है तो कालसे भयभीत रहता है॥१६॥**

सुबोधिनी : **एवम् एकदेशिमतेन कालं निरूप्य पुनः एकदेशमतेन निरूपयति प्रभावम् इति. केचित् पौरुषं प्रभावं कालं प्राहुः. पुरुषस्य धर्मः कश्चित्, सामर्थ्यविशेषो वा. तथात्वे हेतुः यतो भयम् इति. यस्मात्**

कालाद् लोके भयं भवति. कस्य भयम्? इति आशङ्क्य आह अहङ्कार...इति. अहङ्कारेण यो विमूढो वञ्चितः, आत्मानमेव अहङ्कारं मन्यते. अहङ्कारविमूढत्वे हेतुः कर्तुः इति. यः कर्मादि-कर्ता, सो अहङ्कारविमूढो भवति. कर्मकर्तृत्वेऽपि हेतुः प्रकृतिम् ईयुषः इति. यस्तु प्रकृत्या सह ऐक्यं प्राप्य कर्माणि करोति, पश्चाद् अहङ्कारेण मूढो भवति, तस्य कालाद् भयं भवति इति अर्थः ॥१६॥

अनुवाद : इस प्रकार एकदेशीके मतानुसार कालका निरूपण करके पुनः एकदेशके मतके अनुसार निरूपण करते हैं **'प्रभाव'** कह कर : कुछ विचारकोंके अनुसार कालतत्त्व, पुरुषतत्त्वका प्रकृतिपर होनेवाले प्रभावके रूपमें है. अर्थात् पुरुषका कोई धर्म या विशेष सामर्थ्य. किस कारण पुरुषका प्रभाव पड़ता है? क्योंकि लोकमें **कालसे भय** लगता है. भय किसे लगता है? समाधान देनेके लिए कहते हैं ..**अहंकारके** कारण जो विमूढ़ अर्थात् जो इतना मोहित हो गया हो कि स्वयंको केवल अहंकारके रूपमें ही पहचानता है. उसका हेतु, **कर्ता** बन कर, जो अपने द्वारा किये गये कर्मादिका स्वयंको कर्ता मानता हो, वह अहंकारसे मोहित होता है. कर्मका कर्ता पुरुष क्यों बनता है, उसका हेतु, **प्रकृतिको पकड़ कर रखना,** क्योंकि प्रारंभमें प्रकृतिके साथमें एकमेक हो कर कर्म करने लग जाता है, उसके बाद उसका अहंकार जाग्रत होनेके कारण मूढ़ बन जाता है. ऐसे पुरुषको कालसे भय लगने लगता है॥१६॥

(स्वमतमें कालका विचार)

श्लोक :

प्रकृतेर् गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि!॥
चेष्टा यतः स भगवान् 'कालः' इति उपलक्षितः ॥१७॥

अनुवाद : **तीन गुणोंकी किसी भी प्रकारकी विशेषतारहित जो**

प्रकृतिकी साम्यावस्था, उसमें, जिसके कारण चेष्टा प्रकट होती हो ऐसे भगवान्‌के रूपको 'काल' कह कर उपलक्षित किया है॥१७॥

सुबोधिनी : **स्वमते कालं लक्षयति प्रकृतेः इति, गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः. प्रकृतेः सम्बन्धिनो ये गुणाः सत्त्वादयः, तेषां साम्यं गुणक्षोभात् पूर्वावस्था. स च क्षोभात् पूर्वं निर्विशेषः. मानवि! इति सम्बोधनं महतः उत्पन्नाः अलौकिकं जानातीति. एतादृशस्य यतः चेष्टा, सः कालः. कालादेव गुणानां क्षोभः. सः कालो भगवान्‌एव, रूप-पञ्चक-मध्ये गणनात्. ननु भगवतः 'कालः' इति संज्ञा कुतः? इति आकाङ्क्षायाम् आह इति उपलक्षितः इति. कलयति आकलयति इति. सर्वो हि प्राणी येन रूपेण कृत्वा सर्वम् आकलयति, मृत्युभीतएव हि सर्वम् आकलयति. अतः 'कालः' इति भगवान्‌एव उपलक्षितः उपलक्षणविधया बोधितः. नहि कालः इति साक्षाद् भगवन्नाम, किन्तु प्राणिनां बोधनहेतुत्वेन निरूपितइति॥१७॥**

अनुवाद : कालके बारेमें अपना मत कहते हैं प्रकृति आदि. **प्रकृति** अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्था. प्रकृतिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले जो सत्त्व रज तम गुण हैं, उनका समानुपाती होना, उस साम्यवाले गुणोंमें क्षोभ उत्पन्न हुआ उससे पूर्वकी अवस्था. इससे क्षोभके आदिमें प्रकृति निर्विशेष होती है. ऐसे **निर्विशेष तत्त्वमें जिसके कारण चेष्टा प्रकट होती हो वह काल** है. कालके कारण ही गुणोंमें विषमता आती है. वह काल स्वयं भगवान् ही है, अक्षरब्रह्मके पांचरूपोंमेंसे एक अन्यतम रूपमें गिना जानेके कारण. भगवान्‌की 'काल' संज्ञा किस कारण दी गयी है? इसके उत्तरमें कहते हैं, इस प्रकार उपलक्षित आदिसे. जिसके आधारपर सारे प्राणी आकलन कर सके वह काल. मृत्युके भयसे सारे काम-काजका आकलन करने लगे. अतः 'काल' संज्ञासे भगवान् ही उपलक्षण विधिसे बताये हैं. 'काल' संज्ञा साक्षात् भगवन्नाम

नहीं है फिर भी उसके आधारपर प्राणियोंको भगवान्का बोध होता रहता है, इसीसे यह निरूपित किया॥१७॥

श्लोक :

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः॥
समन्वेति एष सत्त्वानां भगवान् आत्ममायया॥१८॥

अनुवाद : **अपनी ही मायाके द्वारा भगवान् भीतर पुरुषरूपसे और बाहर कालरूपसे प्राणियोंके साथ सदा जुड़े ही रहते हैं॥१८॥**

सुबोधिनी : **एवं कालं भगवद्रूपत्वेन उक्त्वा तस्य उपलक्षणतां निरूपयति अन्तः पुरुषरूपेण इति. एकएव भगवान् सर्वप्राणिनाम् अन्तः पुरुषरूपेण वर्तते, बहिः कालरूपेण, अन्यथा भगवतो व्याप्तिः न स्यात्. बहिर्मुखान् कालरूपेण भक्षयति, अन्तर्मुखान् पुरुषेण आप्याययति इति. अतएव सत्त्वानां सर्वेषां भगवान् स्वमायया सर्वभवनसामर्थ्येन उभयविधो भूत्वा, समन्वेति सम्यग् अन्वयं प्राप्नोति. बहिः काले लयं प्राप्नोति, अन्तः पुरुषः इति. कालो भयजनको — अभयरूपः च पुरुषः इति विशेषः॥१८॥**

अनुवाद : भगवद्रूपका कालके रूपमें वर्णन किस कारणसे उपलक्षण है, इसे समझाते हैं कि स्वयं भगवान् सभी प्राणियोंके **भीतर पुरुषरूपसे** वर्तमान होते हैं, **बाहर कालरूपसे,** अन्यथा भगवान् व्यापक नहीं रह जायेंगे. इस कारण जो बहिर्मुख हैं उनका भगवान् कालरूपसे भक्षण करते हैं और अन्तर्मुखोंको पुरुषरूपसे संतुष्ट भी करते हैं. इसीसे सभी प्राणियोंके लिए भगवान् अपनी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके द्वारा उभयविध बन कर जुड़े रहते हैं. **बाहर** कालमें सब-कुछ लीन हो जाता है, **भीतर** रहा पुरुष भयमुक्त होता है. इसी कारण काल भयजनक है और पुरुष अभयरूप है, यह विशेषता है॥१८॥

(तत्त्वोंकी उत्पत्तिपूर्वक आधिभौतिकादि लक्षणोंका निरूपण)

(१.महत्/चित्तके लक्षण)

श्लोक :

दैवात् क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्॥
आधत्त वीर्यं सा असूत महत् तत्त्वं हिरण्मयम्॥१९॥

अनुवाद : **कालवशात् धर्मोमें हुयी हलचलके कारण जब प्रकृतिको योनिकी तरह बना कर पुरुष चैतन्य रूपी वीर्यका आधान करता है, तब प्रकृतिमेंसे हिरण्मय महत् तत्त्वका प्रसव होता है॥१९॥**

सुबोधिनी : **एवम् उद्देशेन तत्त्वानि निरूप्य उत्पत्तिपूर्वकं लक्षणानि आह दैवाद् इति. प्रथमतः चित्तस्य उत्पत्तिम् उक्त्वा तस्य आधिदैविकादिभेदान् निरूपयता लक्षणानि उच्यन्ते. आदौ उत्पत्तिः, ततः आध्यात्मिकस्य लक्षणं, ततः आधिदैविकस्य, ततः आधिभौतिकस्य इति. एवम् एकः पदार्थः चतुर्भिः उच्यते. तत्र प्रथमं महत् तत्त्वस्य उत्पत्तिम् आह दैवात् कालात्, क्षुभिताः धर्माः यस्याः सा पुरुषस्य योनिः क्षेत्रं, तस्यां परः पुमान् प्रथमपुरुषो वीर्यम् आधत्त, यथा स्वभार्यायां पुरुषः. तस्य इन्द्रियाणि भगवतइव आनन्दमयानि, रेतस्तु सच्चिदंशः. चिदंशएव इति एके, सदंशस्तु प्रकृतेः सकाशात् सम्बध्यते. ततः सा प्रकृतिः महत् तत्त्वम् असूत. तस्य शरीरं हिरण्मयं, यथा सूर्यान्तर्गतस्य नारायणस्य. आनन्दसतोः ऐक्ये हिरण्यरूपता भवति॥१९॥**

अनुवाद : इस प्रकार तत्त्वोंका नामनिर्देश करनेके बाद उन तत्त्वोंकी उत्पत्ति किस प्रकार हुयी उसके लक्षण बताते हैं. कालके कारण सबसे पहले चित्तकी उत्पत्तिका वर्णन करनेके बाद उसके आधिदैविक आदि प्रभेदोंका निरूपण करनेके लिये लक्षणोंका निरूपण करते हैं. पहले उत्पत्तिका निरूपण, उसके बाद चित्तके आध्यात्मिक रूपका लक्षण, उसके बाद आधिदैविकका और अन्तमें आधिभौतिकका. इस तरह

एक ही पदार्थका चार प्रकारसे निरूपण किया है. उसमें पहले महत् तत्त्वकी उत्पत्ति दिखाते हैं कालवशात्. कालके कारण प्रकृतिके गुणोंमें हलचल होती है वह प्रकृति पुरुषके लिए योनि अथवा क्षेत्र है, उसमें पुरुष **वीर्यका आधान** करता है. जैसे पुरुष अपनी भार्यामें करता है वैसे. उस पुरुषकी इन्द्रिय भगवान्के समान आनन्दमयी होती हैं, उसका वीर्य सच्चिदानन्द ब्रह्मका सच्चिदंश है. कुछ लोग कहते हैं कि केवल चिदंश ही, क्योंकि सदंश तो प्रकृतिमेंसे मिल ही रहा है. उसके बाद उस प्रकृतिमेंसे महत् तत्त्वका प्रसव होता है. उसका शरीर हिरण्मय होता है, सूर्यमंडलमें विराजमान नारायणके समान. आनन्दांश और सदंश का मिश्रण हिरण्मय रूपमें माननेमें आता है॥१९॥

श्लोक :

विश्वम् आत्मगतं व्यञ्जन् कूटस्थो जगदङ्कुरः ॥
स्वतेजसा अपिबत् तीव्रम् आत्मप्रस्वापनं तमः ॥२०॥

अनुवाद : **वह महत् तत्त्व स्वयंको शयनावस्थ करनेवाला तमस्का अपने तेजसे पान करके, प्रकट होनेवाले विश्वको अपने अंदर व्यक्त करनेवाला, जगत्के अंकुर जैसा कूटस्थ होता है॥२०॥**

सुबोधिनी : **आध्यत्मिकं लक्षयति विश्वम् इति, सहि महान् सर्वजगत्प्रसवहेतुः, विश्वाधारत्वं तस्य लक्षणम्. ब्रह्माण्डस्यापि अंशतो भवति इति कूटस्थः इति उक्तम्. प्रकृतिव्युदासार्थं जगदङ्कुरम् इति. यथा वृक्षस्य प्रथमावस्था अङ्कुरः तथा जगतः. सहि विश्वम् आत्मगतं व्यनक्ति. तत् किं कुर्वन्? इति आकाङ्क्षायाम् आह स्वतेजसा आत्मप्रस्वापनं तमः पिबन् इति. येन तमसा पूर्वं महत् तत्त्वं प्रस्वापितं लयं प्रापितम् आसीत्, तद् मूलभूतं तमः महत् तत्त्वेन पीयते, अन्यथा जगत् केनापि प्रकारेण न अभिव्यक्तं स्यात्. अस्य महत् तत्त्वस्य महात्म्यत्रयम् उक्तं : जगत्प्रकाशकत्वेन, जगज्जनकत्वेन, अतिसमर्थतमोनाशकत्वेन च.**

त्रीण्यपि एतानि लक्षणानि कारणगुणत्रयसूचकानि सात्त्विक-राजस-तामसानि क्रमेणैव॥२०॥

अनुवाद : चित्तके आध्यात्मिक स्वरूपका लक्षण कहते हैं. यह महत् तत्त्व महान् होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्के प्रसवका हेतुरूप बनता है, इसीसे उसका लक्षण विश्वाधार होना है. अंशतः तो ब्रह्माण्डका भी आधार होता है अतः इसको **कूटस्थ** कहा. उसे प्रकृतिसे पृथक् दिखानेके लिए **जगत्का अंकुररूप** कहा. जिस प्रकार वृक्षकी प्रथमावस्था अंकुर होती है उसी प्रकार जगत्की प्रथमावस्था महत् तत्त्व है. इसी कारण विश्व उसके भीतर भरा हुआ रहता है. ऐसा क्यों होता है, इसके उत्तरमें कहते हैं, **स्वयंको शयनावस्थ करनेवाला तमस्का यह अपने तेजसे पान करता** है. सृष्टिके प्रलयके बाद प्रकट होनेवाला तमस् था. उसने पहले महत् तत्त्वको सुला कर प्रलीन कर दिया था, उस मूलभूत तमस्का महत् तत्त्व सृष्टिके आरंभमें पान कर जाता है. यदि ऐसा न करे तो जगत् किसी भी प्रकारसे फिर प्रकट ही नहीं हो पाता. इस महत् तत्त्वके माहात्म्यमें तीन बात आती हैं : यह तत्त्व जगत्प्रकाशक होता है, जगत्-जनक होता है और अतिसामर्थ्यवान् तमस्का नाशक होता है. महत् तत्त्वके ये तीनों लक्षण उसके कारणके क्रमशः तीन सात्त्विक राजस तामस गुण उनके सूचक हैं॥२०॥

श्लोक :

यत्-तत् सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवतः पदम्॥
यद् आहुर् 'वासुदेवा'ख्यं चित्तं तद् महदात्मकम्॥२१॥

अनुवाद : **जो वह भगवत्पदरूप स्वच्छ शान्त सत्त्व गुणोंवाला हो और जिसकी संज्ञा 'वासुदेव' है वह चित्त महदात्मक होता है॥२१॥**

सुबोधिनी : आधिदैविकं लक्षयति यत् तद् इति. तस्य आधिदैविकं रूपं वासुदेवः इति. वासुदेवाविर्भावस्थानत्वात्. वसुदेवे आविर्भवतीति वासुदेवः. विशुद्धं सत्त्वं वसुदेवः, तदेव अस्य आधिदैविकं रूपं, यत् सर्वोपास्यत्वेन प्रसिद्धम् तदेव एतत्. सत्त्वं गुणो यस्य. सत्त्वस्यापि सत्त्वं, तस्य रूपत्रयम् आह सच्चिदानन्दत्वाय. तत्र सद्रूपताम् आह स्वच्छम् अतिनिर्मलं, शान्तं चिद्रूपं, ज्ञानमेव हि शान्तरूपं, भगवतः पुरुषोत्तमस्य पदम् आनन्दरूपम्. एवं सच्चिदानन्दरूपम्. सत्त्वस्य सत्त्वम् तत् चित्तं, सर्वेषु प्राणिषु चेतनारूपेण स्थितम्. तस्य उपासनार्थं नामान्तरम् आह यद् आहुः 'वासुदेवा'ख्यम् इति. 'वासुदेवः इति आख्या यस्य. वासुदेवशरीररूपत्वाद्, वासुदेवाधारत्वाद् वा यस्माद् इति विग्रहः. आहुः इति प्रमाणम्. ननु चित्तस्य तादृशस्य उत्पत्तिः न उक्ता इति आशङ्क्य आह तद् महदात्मकम् इति. महत्-तत्त्वरूपमेव चित्तं, तेन महदुत्पत्यैव तस्य उत्पत्तिः उक्ता इति अर्थः ॥२१॥

अनुवाद : आधिदैविक चित्तका लक्षण बताते हैं : उसका आधिदैविक रूप वासुदेव होता है, वासुदेवके आविर्भावका स्थान होनेके कारण. वासुदेवका आविर्भाव वसुदेवमेंसे होनेके कारण. वसुदेव विशुद्ध सत्त्वरूप होता है, वह (वासुदेव) ही इसका आधिदैविकरूप होता है, जो कि सर्वोपास्य होनेके रूपमें प्रसिद्ध है. वह ही यह है कि सत्त्वगुण जिसका हो. सत्त्वका भी सत्त्व, उसके तीन रूप दरसाये गये हैं, वह सच्चिदानन्द है यह दरसानेके लिए. उन तीनमें पहली सद्रूपता **स्वच्छ** = अतिनिर्मल कह कर दरसायी, चिद्रूपताको शान्त कह कर, क्योंकि ज्ञान ही तो शान्त रूप हो सकता है. **भगवान्** = पुरुषोत्तमका **पद** = आनन्दरूप होता है. इस प्रकार सच्चिदानन्दरूप है. ऐसे ही सत्त्वका सत्त्व, **चित्त** जो सभी प्राणियोंमें चेतनारूप स्थित होता है. उपासना करनेके लिए उसका दूसरा नाम कहते हैं जिसकी संज्ञा **'वासुदेव'** है, **'वासुदेव'** ऐसी जिसकी आख्या है, वासुदेवके शरीररूप होनेके कारण, अथवा वासुदेवके आधार होनेके कारण ऐसा **कहा**

गया है. 'आहु'पदके प्रयोग द्वारा प्रमाण दरसानेमें आया. ऐसे चित्तकी, परन्तु, उत्पत्ति कहाँ दिखलायी गयी है? उसका समाधान देते हैं कि वह महदात्मक है, अर्थात् चित्त महत् तत्त्वरूप है, इस लिये महत् तत्त्वकी उत्पत्तिके वर्णनमें वासुदेवात्मक चित्तकी उत्पत्ति भी वर्णित की गयी, ऐसा मान लेना चाहिये॥२१।

श्लोक :

स्वच्छत्वम् अविकारित्वं शान्तत्वम् इति चेतसः॥
वृत्तिभिः लक्षणं प्रोक्तं यथा अपां प्रकृतिः परा॥२२॥

अनुवाद : **चित्तकी स्वच्छता अविकारिता और शान्तता की वृत्तियोंके आधारपर लक्षण कहे गये हैं जैसे जलका मूलस्वभाव है वैसे॥२२॥**

सुबोधिनी : **आधिभौतिकं लक्षयति स्वच्छत्वं निर्मलत्वम्, अविकारित्वं सर्वविकारराहित्यं, शान्तत्वं ज्ञानरूपत्वम्. बुद्धि-मनो-अहङ्कार-व्युदासार्थं त्रीणि विशेषणानि. बुद्धिः ज्ञानरूपापि विषयाकारेति न स्वच्छा, चित्तन्तु निर्विषयं केवलात्मावबोधरूपतमिति स्वच्छम्. मनस्तु विकारात्मकं स्पष्टमेव. शान्तत्वं न अहङ्कारस्य, सात्त्विकाहङ्कारस्य तथात्वेऽपि पदार्थस्य एकत्वात्, शान्तघोरविमूढात् केवलशान्तत्वं व्यावर्ततएव. अतएव चेतसो वृत्तिभिः लक्षणं प्रोक्तं, न एताः वृत्तयो अहङ्कारादेः भवन्ति. ननु चित्तमपि बुद्ध्यादिभिः विषयग्रहणे कलुषितं जायते, अन्यथा तन्निरोधे यत्नो न कर्तव्यः स्यात्. अतः आह यथा अपाम् इति. यद्यपि फेनतरङ्गादयोऽपि अपां भवन्ति, तथापि न तासां सहजस्वभावो अयं, किन्तु वाय्वादिकृतं, स्वभावतो निर्मलमेव. अतएव परा प्रकृतिः अपां स्वच्छैव. लक्षणंतु अकृत्रिमम्, औपाधिकास्तु कृत्रिमाः. नहि कदाचिदपि पृथिवी निर्मला भवति, वायुः वा विकाररहितो भवति, तेजो वा शान्तं भवति. अतः तत्सम्बन्धे अपां तत्-तद्भावापत्तिः॥२२॥**

अनुवाद : **स्वच्छता** अर्थात् निर्मलता. **अविकारिता** = किसी भी प्रकारके विकारोंसे रहित होना. **शान्तता** अर्थात् ज्ञानरूपता. ये विशेषण मन बुद्धि अथवा अहंकार से पृथक् करनेके लिए कहे गये हैं. बुद्धि जो कि ज्ञानरूपा होती है तो भी अपने विषयके आकारसे रंजित होनेके कारण स्वच्छ नहीं मानी जा सकती. चित्त निर्विषय केवल आत्मावबोधरूप होनेके कारण स्वच्छ होता है. मन तो स्पष्ट तौरपर विकारात्मक ही होता है. वैसे हि अहंकार कभी शान्त हो नहीं सकता, फिर भी सात्त्विक अहंकार शान्त होता है. तो भी शान्त घोर और विमूढ़ ऐसे तीन स्वभाववाले अहंकारकी शान्तता और चित्तकी एकान्तिक शान्तता के बीच अंतर होनेसे, चित्त, अहंकारसे पृथक् रहता है. इसी कारण चित्तकी अपनी **वृत्तियोंके अधारपर लक्षण कहते हैं,** ऐसी वृत्तियाँ अहंकार आदिकी नहीं हो सकती. शंका कर रहे हैं कि चित्त भी बुद्धि आदिके द्वारा उन-उन विषयोंको ग्रहण करता हो तो कलुषित तो होगा ही. नहीं तो उसके निरोधकी भी आवश्यकता क्यों होनी चाहिये? उसके समाधानमें कहते हैं जैसे **जलका मूलस्वभाव होता है वैसे.** जैसे झाग तरंग आदि जलमें प्रकट होते हैं, वह भी जलका सहज स्वभाव नहीं होता किन्तु वायु आदिके द्वारा बन जाता है, स्वभावसे तो जल निर्मल ही होता है. इसीसे **मूलस्वभाव तो जलका** स्वच्छ ही होता है. **लक्षण** तो कृत्रिम स्वभावके आधारपर दिये नहीं जा सकते, औपाधिक स्वभाव कृत्रिम ही होता है. पृथ्वी कभी निर्मल नहीं हो सकती. वायु कभी विकाररहित हो नहीं सकता और तेज कभी शान्त हो नहीं सकता. अत: जल जिसके साथ मिलता है वैसा स्वभाव धारण कर लेता है और वैसा ही बन जाता है॥२२॥

(२. अहंकारके लक्षण)

श्लोक :

महत्तत्वाद् विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यसम्भवात्॥

क्रियाशक्तिः अहङ्कारः त्रिविधः समपद्यत ॥२३॥

अनुवाद : महत् तत्त्वके विकारके रूपमें उत्पन्न करनेके लिए आन्तरिक भगवद्वीर्यरूप क्रियाशक्ति धारण करनेवाला अहंकार संभव हुआ और उसके भी तीन प्रकार बन गये ॥२३॥

सुबोधिनी : अहङ्कारस्य उत्पत्तिपूर्वकं पूर्ववद् लक्षणानि आह महत्तत्वाद् इति चतुर्भिः. विकुर्वाणाद् कार्योन्मुखात्. कालेन हि गुणक्षोभे विकृतं सत् कार्यम् उत्पादयति. न केवलं विकारमात्रेण किन्तु अन्तर्भगवच्छक्तिरपि सार्वजनिका अपेक्ष्यते. तद् आह भगवद्वीर्यसम्भवात् इति. भगवद्वीर्यस्य सम्भवो यस्मिन्. नहि जले मथ्यमाने तत्र अविद्यमानं घृतम् उत्पद्यते किन्तु दुग्धे दध्नि वा. अनेनैव वैनाशिक प्रक्रिया निराकृता, अन्यथा सर्वस्मादेव सर्वं जायेत. स्वभावस्य नियामकत्वेतु स्वभावस्यापि तथात्वे प्रमाणं वक्तव्यम्. अचेतनाहि सर्वे नियन्तुं शक्याः, ईश्वरएव केवलम् अनियम्यः. शास्त्रतः स्वभावस्य अन्यथाभावोऽपि न उपपद्येत. पटादौ तन्त्वादिसामग्री, चिन्तामण्यादयः च कारणत्वेन कल्प्यमानाः व्यभिचारिणः स्युः. अतो भगवच्छक्तिः एकैव सर्वभवनरूपा, प्रतिनियता समुदाये, प्रत्येकं वा, यत्रैव अवतिष्ठते भगवन्नियमात् ततएव उत्पाद्यतइति युक्तं भगवानेव तथा आविर्भवतीति न वैनाशिकगन्धोऽपि. श्रुतिरपि संवादिनी अत्र, अन्यत्र श्रुतिविरोधः च, तस्माद् युक्तम् उक्तं भगवद्वीर्यसम्भवाद् इति. ज्ञानप्रधानाद् महत्तत्वात् क्रियाशक्तिः अहङ्कारः उत्पन्नः. सच त्रिविधः. उत्पत्त्यैव तथैव समपद्यत. क्रियाहि भेदिका कारणभूतं गुणत्रयं कार्ये भिन्नतयैव उत्पादितवती ॥२३॥

अनुवाद : चित्तके बाद अब अहंकारका भी उत्पत्तिके आधारपर लक्षण कहते हैं, महत् तत्त्वसे, चार श्लोकोंके द्वारा. विकार उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त अर्थात् कार्य उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होते समय. कालके कारण गुणोंमें हलचल होनेसे महत् तत्त्व विकृत (परिणामशील) हो कर अहंकाररूप

कार्य प्रकट करता है. केवल परिणामशील बन जानेसे परिणाम प्रकट नहीं होता किन्तु परिणामी कारणके भीतर भगवान्‌की सर्वजननात्मिका शक्तिकी भी अपेक्षा तो रहती ही है. उसे बताते हैं **भगवद्‌वीर्यरूपद्वारा,** भगवद्‌वीर्य जहां संभव हो. जलको मथनेसे वहां अविद्यमान घृत उत्पन्न नहीं हो जाता परन्तु दूध अथवा दही मथनेसे उत्पन्न होता है. इसके द्वारा वैनाशिक प्रक्रियाका निराकरण हो गया, नहीं तो किसी भी कारणमेंसे कोई भी कार्य उत्पन्न हो जाता. स्वभावको नियामक मानना हो तो उसके भी नियामक होनेमें कोई तो नियामक प्रमाण देना चाहिये न! सभी अचेतन पदार्थोंका नियमन किया जा सकता है पर ईश्वरका कोई नियामक नहीं होता. शास्त्रके अनुसार स्वभावका अन्यथाभाव नहीं हो सकता. कपड़े आदिमें सूत आदि सामग्रीको, वैसे हि चिन्तामणि आदिको भी कारण माननेसे कार्य-कारणभावमें व्यभिचार दोष आयेगा. इसीसे सर्वभवनसामर्थ्यरूपा एकमात्र भगवत्-शक्ति ही प्रत्येक कारण अथवा समुदाय में नियत माननी चाहिये, जहां वह(भगवत्-शक्ति) हो वहां वह (शक्ति) भगवान्‌के द्वारा नियत की हुयी होती है. इसी कारण ही कार्य नियतरूपमें वहां-वहां उत्पन्न होता है. भगवान् स्वयं हि तत्-तत् रूपोंमें प्रकट होते हैं. इसलिए वैनाशिक मत सर्वथा अस्वीकार ही है. इस बारेमें श्रुतिवचन भी सुसंगत हो जाता है. दूसरे प्रकारसे माननेमें श्रुतिविरोध सामने आता है. इसीसे **भगवद्‌वीर्यरूप** कहा, वह युक्त ही है. ज्ञानप्रधान महत् तत्त्वमेंसे जो क्रियाशक्तिवाला अहंकार उत्पन्न हुआ वह तीन प्रकारका होता है. भेद प्रकट करनेवाली क्रियाएं और कारणभूत तीन गुण भिन्न प्रकारके कार्यको उत्पन्न करनेवाले हुए॥२३॥

श्लोक :

वैकारिकस् तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ॥
मनसश्च इन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि॥२४॥

अनुवाद : **वैकारिक सात्त्विक तैजस् और तामस, ऐसे तीन रूपोंसे प्रकट हुए उस अहंकारमेंसे मन, पांच इन्द्रिय, महत् और पंचमहाभूत प्रकट होते हैं॥२४॥**

सुबोधिनी : **आध्यात्मिकस्वरूपमिव तान् भेदान् गणयति वैकारिकः इति. वैकारिकः सात्त्विकः तैजसो राजसः तामसश्च. आध्यात्मिके गुणाएव सधर्माः लक्षणानि. यतः त्रिविधाद् मनसः इन्द्रियाणां भूतानां च सम्भवः. महताम् इति तन्मात्राणाम्. महतामपि कार्यजननमपि लक्षणम्. ''मनःप्रभृति-कार्यजनक-सत्त्वादिगुणवत्त्वं'' वा लक्षणम् अव्यभिचारात्॥२४॥**

अनुवाद : अहंकारके आध्यात्मिक स्वरूप जैसे अनेक प्रभेदोंकी गणना करते हैं. वैकारिक = विकृत सात्त्विक तैजस् = राजस और तामस. आध्यात्मिक कार्योंमें गुण ही उत्पादक होनेसे धर्म और लक्षण भी बन जाते हैं. क्योंकि मन भी त्रिविध होनेके कारण उसमेंसे इन्द्रिय और पंचमहाभूत प्रकट होते हैं. महद्भूत अर्थात् तन्मात्रा. महद्भूतका लक्षण भी कार्यजनन होता है. इसी कारण ''मन आदि कार्योंका जनक हो कर जो सत्त्वादि गुणवाला होता है वह अहंकार'' ऐसा अव्यभिचारी लक्षण फलित हुआ॥२४॥

(अहंकारका आधिदैविक स्वरूप)

श्लोक :

सहस्रशिरसं साक्षाद् यम् अनन्तं प्रचक्षते॥
'सङ्कर्षणा'ख्यं पुरुषं भूतेन्द्रिय-मनोमयम्॥२५॥

अनुवाद : **यह अहंकार हजार सिरवाला 'अनंत' कहलाता है और उसका 'संकर्षण' नाम भी है. वह भूतेन्द्रियमनोमय (भूत इन्द्रिय और मन रूपी) पुरुष बन जाता है॥२५॥**

सुबोधिनी : आधिदैविकं लक्षयति सहस्रशिरसम् इति. यथा पूर्वं वासुदेवः तथा अत्र सङ्कर्षणः. स्वभावतो अयं तामसः प्रलयकर्ता च. अहङ्कारेण उत्पादितं नाशकमेव. तस्य अनेकधा उत्पत्तिज्ञापनार्थं देवतायाम् अनन्तानि शिरांसि निरूपयन्ते सहस्रशिरसम् इति. सुखभेदाः वा, ''सहस्रसम्मितः स्वर्गो लोकः'' ( ) इति श्रुतेः. अतएव अहङ्कारेण कालनिरूपित-कर्माणि सफलानि अनन्तानि. 'अनन्त'शब्दः काले, सङ्कर्षणे, शेषे च प्रवर्तते. प्रचक्षते इति प्रमाणम्. सात्त्वता यं सङ्कर्षणाख्यं प्रचक्षते इति सम्बन्धः. सा काचिद् अन्या देवता भविष्यति इति आशङ्क्य आह पुरुषम् इति. पुरुषएव सङ्कर्षणः, न मूलभूतः कालः. तस्य त्रिविधाहङ्काराधिष्ठातृत्वाय रूपत्रयम् आह भूतेन्द्रिय-मनोमयम् इति. तत्र विद्यमानानि भूतेन्द्रियमनांसि कार्ये आविर्भवन्ति. 'मयट्'प्रत्ययः प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते; प्राचुर्ये च अयम्॥२५॥

अनुवाद : अब अहंकारका आधिदैविक स्वरूप बता रहे हैं. अहंकारके आधिदैविक स्वरूपका लक्षण **हजार सिरवाला** है. जैसे आगे वासुदेव थे वैसे ही यहां संकर्षण है. स्वाभाविकरूपसे अहंकार तामस और प्रलयकर्ता होता है. इसीसे अहंकार जैसा भी उत्पन्न होता है वह नाशक ही होता है. उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे होती है, उसे बतानेके लिए संकर्षण देवताके **अनंत सिरोंका** निरूपण करते हैं 'हजार सिरवाला' कह कर, अथवा तो **अनन्त सिरका** अर्थ अनन्त प्रकारके सुख भी हो सकता है, क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि ''**स्वर्गलोक हजारों प्रकारके सुख प्रदान करनेवाला है.**'' ( ) इसी कारण अहंकारसे किये जाते कालनिरूपित कर्म, सफल और अनंत होते हैं. **अनन्त** शब्दका प्रयोग काल संकर्षण और शेष के लिए किया जाता है. **कहलाता है** पदप्रयोगके कारण प्रमाणका सूचन किया. सात्त्वत जिसको **संकर्षण** संज्ञासे बताते हैं. उसे कोई दूसरा देवता ही न मान ले इसीसे उसे **पुरुष** कहा. पुरुष ही संकर्षण बनता है, मूलभूत काल नहीं. यह पुरुष तीनों प्रकारके अहंकारोंका अधिष्ठाता

बन जानेके कारण, उसके तीन रूप कहे भूत इन्द्रिय और मन रूपी, वहां विद्यमान भूत इन्द्रिय और मन का कार्यतया आविर्भाव होता है. 'भूतेन्द्रियमनोमय' शब्दमें 'मयट्'प्रत्यय प्रत्येकके साथ जुड़ा हुआ है, और उसका अर्थ प्रचुरता भी होता है॥२५॥

श्लोक :

कर्तृत्वं कारणत्वं च कार्यत्वं च इति लक्षणम्॥
शान्त-घोर-विमूढत्वम् इति वा स्याद् अहङ्कृतेः॥२६॥

अनुवाद : **अहंकारका लक्षण कर्तापने कारणपने और कार्यपने के आधारपर तीन प्रकारका होता है. अथवा अहंकार शान्त घोर और विमूढ़ होता है॥२६॥**

सुबोधिनी : **आधिभौतिकं लक्षयति कर्तृत्वम् इति. कर्तृत्वं प्राणिषु विद्यमानाहङ्कारस्य सात्त्विकस्य लक्षणं, कारणत्वं राजसस्य, कार्यत्वं तामसस्य. एतद् धर्मपुरःसरं लक्षणम्. धर्मिपुरःसरम् आह शान्त-घोर-विमूढत्वम् इति. शान्तत्वं सात्त्विकस्य स्वरूपलक्षणम्, अतएव अहङ्कारेण शान्तिः अप्रयोजिका. घोरत्वं राजसस्य, विमूढत्वम् तामसस्य. निरहङ्कारस्य न एते भावाः उत्पद्यन्ते. अतएव भगवत्परः त्रितयविलक्षणो भवति. वा इति विकल्पार्थः. अहङ्कृतेः अहङ्कारस्य. भौतिकस्य दुर्बलत्वात्(दुर्बलत्वाय!) स्त्रीत्वम्॥२६॥**

अनुवाद : अहंकारके आधिभौतिक स्वरूपका लक्षण कह रहे हैं. [१] **कर्तृत्व** प्राणियोंमें सात्त्विक अहंकारका लक्षण, [२] **कारणपना** राजसका और [३] **कार्यपना** तामसका. यह लक्षण अहंकारके धर्मोंके आधारपर किया गया है. अब स्वयं अहंकार धर्मीके आधारपर भी **शान्त घोर** और **विमूढ़** होता है. **शान्त** होना सात्त्विक अहंकारका स्वरूप लक्षण है, इसीसे अहंकारके कारण कभी किये गये कार्योंमें शान्तिकी अपेक्षा होती नहीं है (अहंकारका स्वयं अपने स्वरूपमें शान्तिका अनुभव करनेके

कारण) घोर होना राजसका लक्षण है, **विमूढ़** होना तामसका. जो अहंकारके अतिरेकसे रहित होता है उसके हृदयमें ऐसे भाव कभी उत्पन्न होते ही नहीं हैं. अतएव जो अहंकार भगवान्में परायण हो जाता है वह इन तीनोंसे विलक्षण हो जाता है. ऐसे वैकल्पिक स्वरूपको सूचित करनेके लिए विकल्पार्थक **अथवाका** प्रयोग किया है. भौतिक अहंकारकी दुर्बलता दिखानेके लिए उसे **अहंकृति** कहा गया है॥२६॥

(३. मनके लक्षण)

श्लोक :

वैकारिकाद् विकुर्वाणाद् मनस् तत्त्वम् अजायत॥
यत् सङ्कल्प-विकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः॥२७॥

अनुवाद : [१.उत्प.लक्ष.] **वैकारिक सात्त्विक अहंकार, जो विकारको उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त हुआ हो उस समय, उससे मन(रूप) तत्त्व प्रकट हुआ,** [२/क.आध्या.स्वरू.लक्ष.] **संकल्प और विकल्प रूपी हो.** [२/ख.आध्या.कार्यलक्ष.] **कामनाका जनक बनता है॥२७॥**

सुबोधिनी : **मनसः उत्पत्तिम् आह वैकारिकाद् इति. अर्द्धेन उत्पत्तिः आध्यात्मिक लक्षणञ्च अर्द्धेन. चरणत्रयेण आधिदैविक लक्षणं, चरणञ्च अन्यत्. वैकारिकात् सात्त्विकाद्, विकुर्वाणात् कालकृतगुणक्षोभयुक्तात्. भगवद्वीर्यसम्भवाद् इति सर्वत्र अनुसन्धेयम्. सात्त्विकस्य विकारो न भविष्यति इति आशङ्क्य पुनः उक्तं विकुर्वाणाद् इति. मनसो दुष्टत्वम् अन्नमयत्वं वा आशङ्क्य तन्निराकरणार्थं 'तत्त्व'पदप्रयोगः मनः तत्त्वम् अजायत इति. तस्यापि आध्यात्मिकस्य कार्यस्वरूपलक्षणे आह यत् सङ्कल्प-विकल्पाभ्याम् इति. सङ्कल्पविकल्परूपत्वं स्वरूपलक्षणं, कामजनकत्वं कार्यलक्षणम् इति॥२७॥**

अनुवाद : वैकारिक आदि इन दो श्लोकोंमेंसे पहलेके आधे चरणमें

उत्पत्ति (कारण)लक्षण और दूसरे आधेमें आध्यात्मिक अहंकारका लक्षण निरूपित हुआ है. बाकीके तीन चरणोंमें आधिदैविक लक्षण, और बाकीके अन्तिम चरणमें भौतिक अहंकारके लक्षणका निरूपण है. **वैकारिक** अर्थात् सात्त्विक, विकारको उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त. इस कालद्वारा जो गुणोंमें हलचल होती है उसके कारण. **आन्तरिक भगवद्वीर्यरूपद्वारा,** इन सभीको जोड़ कर अर्थ ग्रहण करना. सात्त्विकसे विकार किस प्रकार उत्पन्न होगा? उसका समाधान देते हैं, **विकारको उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त** होता हो तब. मनको सदोष अथवा अन्नमय ही मानते हो ऐसी धारणाका निरास करनेके लिए 'तत्त्व'पदका प्रयोग किया, **'मन' तत्त्वके जन्मके द्वारा.** उस मनका आध्यात्मिक स्वरूप और कार्य के लक्षण देते हैं, **संकल्प - विकल्परूपोंके** द्वारा. संकल्प और उसमें भी विकल्प रूप होना यह मनका स्वरूपलक्षण है और कामनाओंका जनक होना मनका कार्यलक्षण है॥२७॥

श्लोक :

यद् विदुर् हि 'अनिरुद्धा'ख्यं हृषीकाणाम् अधीश्वरम्॥
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः॥२८॥

अनुवाद : **जो** आ.दैवि.लक्ष. **'अनिरुद्ध' संज्ञासे जाना जाता है क्योंकि वह हृषिकों (इन्द्रियों) के अधीश्वर होता है.** आ.भौति.लक्ष. **योगीजन उसे शरद ऋतुका इन्दीवर = नीलकमल जैसा मान कर उनका संराधन करते हैं॥२८॥**

सुबोधिनी : **आधिदैविकं लक्षयति यद् विदुः इति. अनिरुद्धः पालकः तस्य देवः. यतो न केनापि निरुद्धः, सएव पालको भवति. यद् यस्माद् हृषीकाणाम् इन्द्रियाणाम् अधीश्वरम् 'अनिरुद्धा'ख्यं विदुः इति सम्बन्धः. इन्द्रियनियामकत्वं तस्य लक्षणम्. बलिष्ठत्वं प्रभुत्वञ्च. प्रतीकारकरणार्थम् आधिदैविक लक्षणम्. तत्र प्रतीकारार्थं भगवदुपासनैव कर्तव्या इति**

शारदेन्दीवरश्यामम् इति उक्तम्. इन्दीवरं रात्रिविकासि, शरच्च सर्वदोषविवर्जिता, श्यामः च गुणः शृङ्गारात्मको भवति. तेन स्नेहेन सर्वकालेषु सर्वदोषाभावेन भगवत्सेवायां मनोदोषाः निवर्तन्ते इति उक्तम्. भौतिकं लक्षयति योगिभिः शनैः संराध्यं वशीकरणयोग्यं मनः. देवतातु न शनकैः आराध्या, दीर्घकालाऽऽदर-नैरन्तर्याणां सर्वत्र भजनहेतुत्वेन निरूपणात्॥२८॥

अनुवाद : अब आधिदैविकका लक्षण कह रहे है. अनिरुद्ध यह मनका पालक देव है. क्योंकि जिसका कोई निरोध न कर सकता हो वही पालक हो सकता है. **क्योंकि** जिस हेतुके कारण **हृषिकोंके** = इन्द्रियोंके **अधीश्वरको 'अनिरुद्ध' आख्यासे पहचाना जाता है.** इन्द्रियोंका नियामक होना उसका लक्षण है. बलिष्ठ होना प्रभु होना. उस मनके प्रतिकार करनेके लिए आधिदैविक लक्षण कहनेमें आया है. मनका प्रतिकार करनेके लिए भगवान्की उपासना करनी यह एक उपाय है. वह उपास्यरूप है, शरद ऋतुके नीलकमलके जैसे. इन्दीवर रात्रिमें खिलनेवाला और शरद ऋतु सभी दोषोंसे विवर्जित होती है, नीला रंग अथवा गुण शृंगार रसात्मक होता है. इसी कारण स्नेह रख कर सर्वकालमें सर्वदाषोंके अभावके कारण भगवत्सेवा करने पर मन दोषोंसे मुक्त हो जाता है. अब भौतिक अहंकारका लक्षण कहते हैं. **योगीजन धैर्यसे संराधन करते हैं.** मन वशमें लाने योग्य है. देवताकी आराधना कभी हलकेसे नहीं अपितु दीर्घकाल तक और आदरभावसे सातत्यपूर्वक करनी चाहिये. क्योंकि सर्वत्र इसे भजनके हेतुके रूपमें वर्णित किया गया है॥२८॥

(४. बुद्धिके लक्षण)

श्लोक :

तैजसात्तु विकुर्वाणाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत् सति॥
द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इन्द्रियाणाम् अनुग्रहः॥२९॥

अनुवाद : हे सति माता! तैजस मन जब विकार उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होता है, तब वह बुद्धि तत्त्व बन जाता है. जो सद्रूप द्रव्य हो उसके स्फुरणके बाद होता विज्ञान और इन्द्रियोंके ऊपर अनुग्रह. (यह बुद्धिका लक्षण है)॥२९॥

सुबोधिनी : बुद्धेः उत्पत्तिम् आह तैजसात्तु इति. 'तु'शब्दः सात्त्विकोत्पत्तिपक्षं व्यावर्तयति. विकुर्वाणाद् राजसाद् बुद्धितत्त्वम् अभूत्. सति! इति सम्बोधनं. तैजसत्वेऽपि सद्बुद्धिरेव उत्पद्यते इति निरूपणार्थः. सति विषये वा, सर्वविषयिकैव बुद्धिः उत्पद्यते इति. अतएव अस्याः आधिदैविकं रूपं न निरूप्यते. आध्यात्मिकं लक्षयति द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इति. यथा इन्द्रियप्रेरकत्वं मनसः तथा इन्द्रियानुग्राहकत्वं बुद्धेः. बुद्धयैव अनुगृहीतानि इन्द्रियाणि पश्यन्ति कुर्वन्ति च. अतएव बुद्धितारतम्येन इन्द्रियज्ञानक्रिययोः तारतम्यम्. एतत् कार्यानुसारि लक्षणम्. द्रव्यस्फुरणविज्ञानम् इति स्वरूपलक्षणम्. द्रव्यस्य घटादेः स्फुरणे सति शब्देन, संस्कारेण, आलोकेन वा यद् विशिष्टज्ञानम्. यस्मात् केवलं चक्षुषा ज्ञाने तारतम्यं न स्यात्. स्वतःस्फुरणं योगजधर्मादिभिरपि भवति, अतो द्रव्यस्फुरणएव विज्ञानं बुद्धेः लक्षणम्॥२९॥

अनुवाद : यहाँ तो शब्दका प्रयोग हुआ, इससे सात्त्विक मनसे नहीं ऐसा अर्थ समझना चाहिये. राजस मन विकार उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त हो, तब बुद्धितत्त्व बन जाता है. 'सति'! संबोधन है. तैजस होनेपर भी सद्बुद्धि ही उत्पन्न होती है ऐसा बतानेके लिए अथवा सद्रूप विषयके बारेमें, सर्वविषयिका बुद्धि उत्पन्न हो सकती है. अतएव इसका आधिदैविक स्वरूपका निरूपण नहीं किया है. आध्यात्मिक लक्षण देते हैं, द्रव्यके स्फुरणके बाद होता जो विज्ञान वह बुद्धिवृत्ति रूप होता है. मन जैसे इन्द्रियोंका प्रेरक बनता है, वैसे इन्द्रियोंके ऊपर अनुग्रह प्रकट करना, बुद्धिका कार्य है. बुद्धिसे अनुगृहीत इन्द्रियाँ देख सकती हैं और कुछ भी कर सकती हैं. इससे बुद्धिमें प्रकट

तारतम्यके कारण इन्द्रियज्ञान और क्रिया में भी तारतम्य प्रकट हो जाता है. यह कार्यानुसारी लक्षण हुआ. अब स्वरूपलक्षण कहते हैं. **द्रव्यके स्फुरणके बाद विज्ञान होता है वह बुद्धि.** घड़े आदि द्रव्यका स्फुरण होनेके बाद शब्द अथवा संस्कार के कारण अथवा प्रकाशके कारण जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि केवल चक्षुसे ही जो ज्ञान होता है तो उसमें तारतम्य प्रकट हो नहीं सकता. क्योंकि द्रव्यके बिना भी स्वतः स्फुरण योगजधर्मो आदिसे ही संभव है, इसीसे द्रव्यके स्फुरणसे उत्पन्न होता विज्ञान बुद्धिके लक्षणके रूपमें कहा॥२९॥

(बुद्धिकी पृथक् - पृथक् वृत्ति)

श्लोक :

संशयो अथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च॥
स्वापः इति उच्यते बुद्धेः लक्षणं वृत्तितः पृथक्॥३०॥

अनुवाद : **[१]संशय तदुपरांत [२]विपर्यास [३]निश्चय [४]स्मृति [५]स्वाप इतने लक्षण बुद्धिके अलग-अलग वृत्तियोंके कारण भिन्न - भिन्न होते हैं॥३०॥**

सुबोधिनी : **आधिभौतिकं विभागनिरूपणेनैव लक्षयति [१]संशयः इति. द्रव्यस्फुरणतारतम्याद् बुद्धिः नानाविधा. संस्कार-तेजसोः तुल्यप्रकाशकत्वे विशेषास्फुर्तौ समः संशयः, अल्पविशेषस्फुर्तौ उत्कटकोटिकः.**

[२]विपर्यासः संस्कारप्राबल्यात् तेजः तदनुगुणमेव धर्मं प्रकाशयति. अथ इति एकस्फुरण - नियामकत्वाय. विपर्यासो भिन्नार्थप्रतिपादकः. क्रिया-ज्ञानयोः च भिन्नविषयत्वम्. अनेन अन्यख्यातिरेव सिद्धान्तः इति उक्तम्. अन्यथात्वे यथार्थत्वं स्यात्. "रजतम् अहं जानामि" इत्येव अनुभवः, नतु "रजतत्वेन जानामि" इति. बुद्धेः तत्त्वरूपत्वाद् न आत्मख्यातिः. संस्कारशब्दयोः पदार्थमात्रापेक्षितत्वाद् न देशकालादिवैशिष्ट्यं नियामकम्. "रजतम् अनुभवामि" इति अनुव्यवसायाद् न प्रमुष्टतत्तारूपा स्मृतिः.

एकज्ञानतुल्यत्वात् च न ज्ञानद्वयम्. संस्कारप्राबल्याद् न अनिर्वचनीयरजतापेक्षा. अतएव न असत्ख्यातिः. तस्माद् अन्यख्यातिरेव सर्वजनीना.

[३]निश्चयो यथार्थानुभवः. [३/क]अर्थो हि ज्ञानस्य अर्द्धम् अङ्गम्; अतएव, स्मृतिः न निश्चयात्मिका, अर्थाभावात्. [३/ख]अनुमितिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव. सादृश्यं रूपादिवत् पदार्थो धर्मरूपः, निरूपकभेदसहिष्णुः तद्धर्मः, तद्धर्म-सजातीयो वा. सः लक्षणत्वेन ज्ञातो द्रव्यस्फुरणेन स्फुरितः संस्कारेण शब्दाभिव्यक्तौ वाक्यप्रामाण्याद् अध्यवसीयते "गवयो अयम्" इति. चक्षुः सहकारिवाक्यं, वाक्यसहकृतं सादृश्यं वा. अनुग्राहकाणां न प्रमाणान्तरत्वम्. [३/ग]शब्दोऽपि निश्चयएव, धर्मसादृश्यातिरिक्त-संस्कारजनकत्वात्. शब्देन च द्रव्यस्फुरणात् चक्षुषो अपेक्षाभावात् प्रमाणान्तरम्. त्रीण्येव प्रमाणानि : इन्द्रियाणि, शब्दः, मनः च इति. चक्षुः श्रोत्रं मनो वा, स्पर्शादीनाम् अन्यशेषत्वम्. मनस्तु योगजधर्मसहितमेव प्रमाणम्, अन्यत्रतु अप्रमाणम्. अतएव स्मृतिः अप्रमाणम्. सङ्गतात्मज्ञानं च अप्रमाणं, विपर्ययरूपत्वात्.

[४]स्मृतिः स्वतन्त्रा, बुद्धिः संस्कारजनिका.

[५]स्वापः स्वप्नरूपः, भिन्नसृष्टिविषयत्वाद् न पूर्वोक्तेषु अन्तर्भावः.

सुषुप्तिस्तु न बुद्धिः, मौढ्यत्वेन परं बुद्ध्यवस्था. आत्मनः स्फुरणन्तु स्वतः, स्वप्नभेदएव वा, निद्रानिमित्तत्वात्.

एवं पञ्चधा बुद्धेः वृत्तितो लक्षणं पृथग् ज्ञेयम् इति अर्थः ॥३०/क॥

अनुवाद : [१]**संशय** द्वारा. द्रव्यके स्फुरणके तारतम्यके कारण बुद्धिके अनेक प्रकार होते हैं. पहले हुए अनुभवका संस्कार और प्रकाश दोनों (यदि) सम्यक् रीतसे वस्तुको प्रकाशित करते हो और प्रकाशित वस्तुकी विशेषता स्फुरित नहीं होती हो तो समकोटिक संशय होने लगता है. जो कोई अल्प और दूसरा विशेष स्फुरित होता हो तो उत्कटकोटिक संशय होने लगता है.

[२]**विपर्यास** पूर्वानुभूतिके संस्कार जब प्रबल हो जाते हों और प्रकाश भी उसके अनुसार वस्तुके गुणधर्मोंको प्रकाशित करने लगे तो 'विपर्यास'

कहलाता है. अर्थात् कोई एक वस्तुके स्फुरणकी नियतिके कारण विपर्यास सामने अर्थात् जो दिखायी देता हो, उसके स्थानपर कोई भिन्न ही वस्तु दिखलायी देती हो अर्थात् क्रिया और ज्ञान दोनों अलग-अलग वस्तुके बारेमें होने लगते हों तो इसे अन्यख्याति ही सिद्धांततः स्वीकारनी चाहिये. वस्तु स्वयं ही अन्यथा दीखती होती तो अनुभूति यथार्थ बन जाती माननी चाहिये थी. जबकि अनुभव तो ऐसा ही होता है कि "रजतको मैं जानता हुं." न कि "रजतपनेके रूपमें जानता हुं." बुद्धि स्वयं तत्त्वरूप होनेसे, आत्मख्याति भी स्वीकारी नहीं जा सकती. पूर्वानुभूतिके संस्कार और शब्द तो प्रत्येक पदार्थके अनुभवमें अपेक्षित होते है, देश या काल आदिके वैशिष्ट्यको अतः यहां नियामक नहीं माना जा सकता. "रजतका अनुभव मैं कर रहा हुं" ऐसे अनुव्यवसायके कारण पहले देखी हुयी चांदीकी तत्ता(चांदीपना) चुरा ली गयी हो ऐसी स्मृति माननेका भी कारण दिखलायी नहीं देता. भ्रांति तो कोई वस्तुके बारेमें होते एक ज्ञानरूपसे अनुभवमें आती है. उसमें स्मरण और अनुभव ऐसे दो ज्ञान माने नहीं जा सकते. इसी तरह पूर्वानुभूतिके संस्कार प्रबल होनेसे यदि भ्रमणाकी व्याख्या की जा सकती हो तो, निरर्थक अनिर्वचनीय रजतकी अपेक्षा कहां रह जाती है? इसीसे असत्ख्याति भी स्वीकार नहीं की जा सकती. इसी कारण अन्यख्याति सभीके अनुभवकी गवाहीसे सिद्ध होती है.

[३] **निश्चय** अर्थाद् यथार्थ अनुभव. [३/क]इसमें जानने योग्य यह है कि **अर्थ** = विषय ज्ञानका आधा अंग होता है; अतः अर्थ न होनेके कारण स्मृति निश्चयात्मक नहीं लगती. [३/ख]अनुमान भी किसी हेतुरूप सम्बन्धीको बीचमें रख कर अन्तमें तो स्वयंके विषयरूप अर्थसे उत्पन्न होता है. उपमान भी अन्ततः तो सादृश्य रूप गंध आदिकी तरह या तो पदार्थ अथवा पदार्थका धर्मरूप होता है. वह निरूपक होनेके भेदको सहनेवाला(सहिष्णु) निरूपित वस्तुका धर्म होता है; अथवा, उसके जैसा धर्म. उसको जब कभी लक्षणकी तरह बुद्धि स्वीकार

करती है तब निरूपित द्रव्यके स्फुरणके कारण स्फुरित होते संस्कार अथवा शब्दों से वह अभिव्यक्त होता है. यह धर्मबोधक है जो ''रोज़ (नीलगाय) गाय जैसा पशु है'' इस वाक्यप्रामाण्यसे समझा जा सकता है कि ''यह रोज़ है.'' इसमें चक्षुको सहकार देनेवाला वाक्य अथवा वाक्यार्थके साथ अनुभवमें आता हुआ सादृश्य प्रमाण बन जाता है. ज्ञानके अनुग्राहकोंको अलग प्रमाण नहीं मानना चाहिये. [३/ग]शाब्दज्ञान भी निश्चयरूप ज्ञान ही है, धर्म अथवा सादृश्य से भिन्न होनेपर भी संस्कारोंका जनक होनेके कारण. उस शब्दके कारण द्रव्यका स्फुरण होता है, तब चक्षुकी अपेक्षा नहीं होती. इसीसे शब्दको अलग प्रमाण मानना योग्य है. प्रमाण तो तीन ही हैं : इन्द्रिय शब्द और मन. अथवा चक्षु श्रोत और मन. स्पर्श आदि तो अन्य प्रमाणोंके अंगरूप ज्ञान उत्पन्न करते हैं. और मन तो योगजन्य सामर्थ्ययुक्त हो तभी प्रमाण बनता है, दूसरी तरहसे वह नियतरूपमें प्रमाण नहीं बन सकता. इसी कारण स्मृति भी प्रमाण नहीं मानी जाती. देहसंघातके बारेमें जो आत्मा होनेकी अनुभूति होती है वह तो अप्रमाण ही है, विपर्यास होनेके कारण.

[४]**स्मृति** रूप ज्ञानकी उत्पत्ति अर्थके आधीन नहीं होती परन्तु अर्थसे स्वतंत्र संस्कारसे होती है. उन संस्कारोंकी जनिका **बुद्धि** होती है.

[५]**स्वाप** तो स्वप्नरूप होनेसे, वह अलग ही सृष्टि है. इस बारेमें पूर्वोक्त ज्ञानके प्रकारोंमें उसका अन्तर्भाव नहीं होता.

सुषुप्तिको बुद्धिरूप नहीं माना जा सकता क्योंकि वह तो बुद्धिकी एक मूढ़ावस्था (काम न करती निष्क्रिय अवस्था) है. आत्माका स्फुरण तब अपने आप ही होता है, अथवा निद्राके कारण होता स्वप्नज्ञान जैसा वह कोई प्रकार है.

ऐसे बुद्धिकी भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके पांच प्रकारोंका भिन्न-भिन्न लक्षण जानने लायक है॥३०/क॥

सुबोधिनी : अनेन ''उभयम् एकं ज्ञानम्'' इति पक्षाः निवारिताः. अतः इदम् अंशेऽपि ''इदं रजतम्'' इति ज्ञानम् अप्रमाणं, नहि ज्ञाने अंशो अस्ति. ''सो अयं देवदत्तः'' इति अनुभवएव, अभ्यासज्ञाने पूर्वज्ञानसंस्कारवत् पूर्वस्मृतिरपि चक्षुषः सहकारिणी. भ्रम-प्रमा-समूहावलम्बनम् ''एकदेशविकृतम् अनन्यवद् भवति'' (परिभाषेन्दुशेखर.३७) इति न्यायेन भ्रमाधिक्ये विपर्ययएव, प्रमाधिक्ये निश्चयः, समानरूपत्वेतु सम्भावनावान् संशयः. सम्भावनादीनां संशयान्तःपातित्वम् अप्रमाणमेव. तत् सिद्धार्थवाक्येतु प्रत्यक्षसहकारित्वात् प्रत्यक्षहेतुत्वमेव. साध्यार्थेतु लौकिके वाक्यार्थो. बुद्धिकल्पितः इति प्रमाणाभावेन अप्रामाण्येऽपि प्रमेयबलात् प्रमाणमेव. लोके वाक्यार्थो न अपूर्वः वक्तृज्ञानविषय-विषयित्वात्, तद्बोधनसमर्थ-पदसमूहस्यैव प्रयोगात्. पदेभ्यः पदसमूहो भिन्नः, सएव वाक्यार्थे करणम्; अन्यथा पदे वृत्तिद्वयम् आपद्येत. पदार्थकरणपक्षेतु वाक्यार्थः शाब्दो न स्यात्. सम्भावितं सर्वमेव अप्रमाणम् इति अग्रे वक्ष्यते॥३०/ख॥

अनुवाद : इससे ''उभयविध ज्ञान मिल कर एक ज्ञानको घड़ता है.'' ऐसा पक्ष निरस्त हो गया. अतः सीपके बारेमें ''यह चांदी है'' ऐसा ज्ञान भी 'यह' अंशमें भी अप्रमाण है. क्योंकि ज्ञानमें ऐसा कोई अंश सम्भव नहीं है. ''वह यह देवदत्त'' यह भी अनुभव ही है, अभ्यासात्मक ज्ञानमें पूर्वज्ञानके संस्कारोंके अनुरूप पूर्वस्मृति भी चक्षुको सहकार देती है. भ्रमज्ञान और प्रमाज्ञान मिल कर जो समूहावलम्बी ज्ञान होता है वह ''एकदेशके विकृत होनेपर सम्पूर्ण वस्तु बदल नहीं जाती.'' (परिभाषेन्दुशेखर.३७) इस न्यायसे यदि भ्रमज्ञानकी मात्रा अधिक हो तो भ्रम और प्रमाज्ञान की मात्रा अधिक हो तो प्रमारूप निश्चय ही होता है. यदि दोनों ज्ञान समान मात्रामें हो तो सम्भावनावाले संशयका प्रकार बन जाता है. सम्भावना आदि ज्ञान संशयान्तःपाती होनेके कारण अप्रमाण ही होता है. सिद्धार्थबोधक वाक्य तो प्रत्यक्षज्ञानका सहकारी होनेसे उसे प्रत्यक्षज्ञानके हेतुके रूपमें मान्य करना चाहिये. साध्यार्थबोधक वाक्य, यदि लौकिक विषयके

बारेमें हो तो बुद्धिकल्पित होनेके कारण वह प्रमाण नहीं माना जा सकता, फिर भी प्रमेयबलके कारण प्रमाण बन जाता है. लोकमें तो कोई भी वाक्यार्थ अपूर्व होता ही नहीं है, वक्ताके ज्ञानके बारेमें होनेके कारण, वक्ताको क्या ज्ञान हो रहा है वह बतानेके लिए ही योग्यपदका समूह इकट्ठा करनेमें आता है. पदसे पदोंका समूह भिन्न होता है, वही वाक्यार्थमें साधन बनता है; नहीं तो पदोंमें दो-दो अलग अर्थबोधक वृत्तियाँ स्वीकारनी पड़ेंगी और शाब्दबोधमें जो पदार्थोंके करण माननेमें आये तो वाक्यार्थको शाब्द ही नहीं माना जा सकेगा. सम्भावित तो सभी अप्रमाण ही होता है, वह आगे बताया जायेगा॥३०/ख॥

(इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका निरूपण)

श्लोक :

तैजसानि इन्द्रियाण्येव क्रिया-ज्ञान-विभागशः॥
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिः बुद्धेर् विज्ञानशक्तिता॥३१॥

अनुवाद : **तैजस इन्द्रिय ही क्रिया और ज्ञान के विभागोंमें बट कर दो तरहकी हो जाती है. प्राणकी क्रियाशक्ति और बुद्धिकी विज्ञानशक्ति का उपयोग करके॥३१॥**

सुबोधिनी : **एवम् अन्तःकरणचतुष्टयोत्पत्तिम् उक्त्वा इन्द्रियोत्पत्तिम् आह तैजसानि इति. ज्ञानकरणकानि क्रियाकरणकानि च उभयविधान्यपि राजसान्येव, नतु ज्ञानकरणकानि सात्त्विकानि, क्रियाकरणकानि तामसानि वा. ''ज्ञान-क्रियान्यतरकरणम् इन्द्रियम्'' इति ''करणम् अतीन्द्रियम् इन्द्रियम्'' इति वा. तत्त्वानि दशाऽपि भिन्नानीति न एकं लक्षणं निर्दिष्टम्. उभयेषां राजसत्वे हेतुम् आह प्राणस्य हि इति. क्रियायां प्राणो मूलं, ज्ञाने बुद्धिः. उभयं राजसम् इति अर्थाद् उक्तं भवति. 'प्राणो' नाम आसन्यः महत्तत्वभेदः, भगवद्रूपो वा. राजसाहङ्कारेतु तस्य अवतारइति न तत्त्वतः,**

नाऽपि उत्पत्तिः निरूपिता. मतान्तरसिद्धानां वैदिकानां वा प्राणानाम् अत्र ग्रहणम्, इन्द्रियाणाम् आध्यात्मिकरूपो वा प्राणः. बुद्धी राजसी इति तदनुगृहीतानि सर्वाणि राजसानि. प्राणस्तु क्रियाप्रधानइति राजसत्वम्. प्राणोऽपि सर्वेन्द्रियानुग्राहकः क्रियाजनिका शक्तिः. विज्ञानरूपा शक्तिः वा यस्याः, तस्याः बुद्धेः भावो वक्ष्यति अग्रे. इन्द्रियाणां लक्षणानि भिन्नानि॥३१॥

अनुवाद : ऐसे अन्तःकरणके चारों प्रकारोंकी उत्पत्तिके निरूपणके बाद अब इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके बारेमें कह रहे हैं, **तैजस** आदि. ज्ञान उत्पन्न करनेवाली और क्रिया उत्पन्न करनेवाली दोनों ही प्रकारकी इन्द्रिय हकीकतमें राजस होती हैं, न कि ज्ञानकी सात्त्विक और क्रियाकी तामस. क्योंकि ''ज्ञान या क्रिया दोमेंसे एकका करण बने वह इन्द्रिय'', अथवा तो ''अतीन्द्रिय करण वह इन्द्रिय'' ऐसा लक्षण अभिप्रेत है. यह दसों-दस इन्द्रिय अलग-अलग होनेके कारण विभिन्न तत्त्व हैं. इसीसे कोई एक लक्षण नहीं दिया है. दोनों ही राजस हैं उसका हेतु कहते हैं, **प्राणकी**... आदि, हरेक क्रियामें मूल प्राण होता है, ज्ञानमें मूल बुद्धि होती है. इसी कारण दोनों राजस ही हैं. यह तो बिना कहे भी कहे जैसा ही है. प्राण यह महत् तत्त्वका एक आसन्य(मुखमें रहा हुआ) प्रकार है, अथवा तो भगवद्रूप है. राजस अहंकार तो उसका अवतार होनेसे तत्त्वभेद नहीं होता है. उसकी उत्पत्ति भी कहीं निरूपित नहीं की गयी है. अथवा तो मतान्तरोंमें प्रसिद्ध अथवा वैदिकोंमें प्रसिद्ध प्राणोंको यहाँ स्वीकार लेना चाहिये, अथवा तो प्राणको इन्द्रियोंका आध्यात्मिक रूप समझना चाहिये. बुद्धि भी राजसी होनेके कारण उससे अनुगृहीत सभी राजसी होते हैं. प्राण तो क्रियाप्रधान होनेसे राजस होता है. प्राण भी सभी इन्द्रियोंपर अनुग्रह करनेवाला होता है. उसकी शक्ति क्रियाको उत्पन्न करनेवाली होती है. जिसकी शक्ति विज्ञानरूपा हो उस बुद्धिके बारेमें आगे कहा जायेगा. इन्द्रियोंके लक्षण भिन्न - भिन्न हैं॥३१॥

(शब्दादि तन्मात्राओंका निरूपण)

श्लोक :

तामसात् च विकुर्वाणाद् भगवद्वीर्यचोदितात् ॥
शब्दमात्रम् अभूत् तस्माद् नभः श्रोत्रन्तु शब्दगम् ॥३२॥

अनुवाद : **तामस अहंकार जब विकार उत्पन्न करने प्रवृत्त होता है तब आंतरिक भगवद्वीर्यसे प्रेरित हो कर शब्द तन्मात्रा प्रकट होती है. उसके बाद आकाश और श्रोत्रेन्द्रिय, जहां शब्द जाता है॥३२॥**

सुबोधिनी : **भूतानां सृष्टिम् आह तामसाद् इति. तामसाहङ्कारात् पूर्ववद्विकुर्वाणात् तामसत्वादेव भगवद्वीर्येण प्रेर्यते, नतु भगवद्वीर्यसत्तामात्रम्. प्रथमतः शब्दमात्रम् अभूत्, तस्मात् पश्चाद् नभः. शब्दे प्रमाणम् आह श्रोत्रम् इति, श्रोत्रस्य गम्यम्. श्रोत्रसमधिगम्यः शब्दः. शब्दधर्माअपि शब्दएवेति लक्षणं न अतिप्रसक्तम्. श्रोत्रं गच्छतीति वा. शब्दाधाराणां न स्वतन्त्रतया गतिरिति तद्व्यावृत्तिः ॥३२॥**

अनुवाद : अब पंचमहाभूतोंकी सृष्टिके बारेमें समझाते हैं, **तामस** आदि. तामस अहंकारसे मन उत्पन्न होता है. पहले जैसा कहा गया उसके अनुसार विकार उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त, तामस होनेके कारण ही भगवद्वीर्यसे ही वह प्रेरित हो सकता है, केवल भगवद्वीर्यका भीतर विद्यमान होना पर्याप्त न होनेके कारण. सबसे पहले **शब्द तन्मात्रा हुयी,** उसके पश्चात् **आकाश.** यहां शब्दके बारेमें प्रमाणका निरूपण करते हैं **श्रोत्रेन्द्रियसे.** जो श्रोत्रेन्द्रियसे जाना जा सकता हो उसे शब्द समझना चाहिये. शब्दोंका धर्म भी अन्तमें तो शब्दरूप ही होनेके कारण लक्षणमें कोई अतिप्रसक्ति नहीं है. श्रोत्रेन्द्रियकी ओर जो जाता हो वह शब्द. शब्दोंको आधार बना कर रहनेवाले धर्म स्वतंत्र प्रकारसे गतिमान हो नहीं सकते, इसी कारण उनकी व्यावृत्तिका सूचन किया है॥३२॥

श्लोक :

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टृलिङ्गत्वमेव च ।।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ।।३३।।

अनुवाद : शब्द अर्थका आश्रयरूप होता है और अर्थ अथवा विषय का कोई पुरुष द्रष्टा है, उसका लिंग = हेतु भी होता है. शब्द आकाशकी तन्मात्रा होती है. ऐसे यह लक्षण विद्वान जानते हैं।।३३।।

सुबोधिनी : शब्दस्य लक्षणानि आह अर्थाश्रयत्वम् इति, अर्थोहि शब्दम् आश्रित्य तिष्ठति. अर्थस्य घटपटादेः रूपत्रयं : तत्र यद् आधिदैविकं रूपं तत् शब्दनिष्ठं शब्दैकसमधिगम्यं शब्देन नित्यसम्बद्धम्. आधिभौतिकन्तु प्रकटरूपं, तस्य न शब्दाश्रयत्वं किन्तु पृथिव्याद्याश्रितत्वमेव. आध्यात्मिकन्तु ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्रितम्. त्रितयभेदेन सर्वत्र लक्ष्यते. शब्दस्य अर्थाश्रयत्वं लक्षणं, नतु आकाशस्य. लक्षणान्तरम् आह द्रष्टृलिंगत्वमेव च इति, द्रष्टाहि अर्थानाम् आध्यात्मिकन्तु अर्थं सम्बन्धित्वेन ज्ञापयति; यथा, भित्तिव्यवहितो गजं दृष्ट्वा ''गजो अयम्'' इति वदति, तदा अन्तःस्थितवाक्यप्रयोक्ता गजदर्शनवान् इति लक्ष्यते. स्वराद् वा ''देवदत्तो अयम्'' इति धर्मतो लक्षणम्. चकाराद् दृश्यज्ञापकत्वं च. भौतिकमपि घटादिकं बोधयति इति अर्थः. लक्षणान्तरम् आह तन्मात्रत्वं च नभसः इति. नभसः तन्मात्रत्वं सूक्ष्मरूपत्वं शब्दस्य लक्षणं, सूक्ष्मावस्था शब्दः स्थूलावस्था नभः इति. केचिद् अन्यथा मन्यन्ते इति स्वोक्ते प्रमाणम् आह कवयो विदुः इति।।३३।।

अनुवाद : अब शब्दके लक्षण कहते हैं, अर्थका आश्रयरूप होता है आदि. अर्थ शब्दोंमें आश्रित हो कर रहता है. अर्थ जो घटपट आदि, उसके तीन रूप होते हैं : उसमें जो आधिदैविक रूप होता है वह शब्दमें रहता है. वह केवल शब्दसे ही गम्य और शब्दसे नित्य सम्बन्ध रखनेवाला होता है. आधिभौतिक रूप प्रकट पदार्थ है, वह शब्दोंमें आश्रित नहीं होते किन्तु पृथ्वी आदि पंचमहाभूतोंमें

आश्रित होते हैं. आध्यात्मिक रूप ज्ञान इच्छा और प्रयत्न में आश्रित होता है. यह तीन प्रभेद हर जगह दिखायी देते हैं. अर्थका आश्रय होना यह शब्दका लक्षण बताया, आकाशका नहीं. दूसरा लक्षण बताते हैं **कोई पुरुष द्रष्टा है उसके लिंगद्वारा.** जिस पुरुषने जो कुछ देखा हो उस अर्थका द्रष्टा, उसमें अर्थ आध्यात्मिक रूपसे रहा होनेके कारण, उसके सम्बन्धीके रूपमें वह द्रष्टा शब्दको बताता है, जैसे कि दीवारके दूसरी ओर कोई हाथीको देख कर "हाथी आया" ऐसा कहता है, तब भीतर रहनेवाला वाक्यप्रयोग करनेवालेने हाथी देखा ही होगा, ऐसा समझ जाता है. कोई कुछ भी बोले तो उसके स्वरोंके कारण भी "यह देवदत्त बोला" ऐसा समझनेमें आता है. यह सारे लक्षण धर्मके आधारपर दिये गये. दृश्यका ज्ञापक होना भी बतानेमें आया. भौतिक घड़ा आदि अर्थोंका भी ज्ञान शब्द देता है. दूसरा लक्षण कहते हैं **शब्द आकाशकी तन्मात्रा** कह कर. आकाशकी तन्मात्रा होना अर्थात् सूक्ष्मरूप होना वह शब्दका लक्षण है, शब्द यह सूक्ष्मावस्था, आकाश यह स्थूलावस्था. कोई-कोई अन्यथा मानते हैं, इसीसे स्वयं कहा उसमें प्रमाण देते हैं, **विद्वान जानते हैं**॥३३॥

(पंचमहाभूतोंमेंसे आकाशका निरूपण)

श्लोक :

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च॥
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम्॥३४॥

अनुवाद : **पृथ्वी आदि भूतोंको अवकाश प्रदान करनेवाला और प्राण इन्द्रिय आत्मा के भीतर और बाहर रहा हुआ धिष्ण्य = आधारस्थान होना आकाशकी वृत्तियोंका लक्षण है॥३४॥**

सुबोधिनी : **आकाशं लक्षयति भूतानाम् इति, भूतानां प्राणिनां छिद्रदातृत्वम्, बहिरन्तःस्वरूपत्वं, प्राणेन्द्रियान्तःकरणाधारत्वं च इति नभसो**

लक्षणत्रयम्. छिद्रम् अवकाशः, बहिरन्तर्व्यवहारः आकाशविषयएव. पृथिव्यादेः आवरणरूपस्य न बहिरन्तर्व्यवहारविषयत्वम्, परिच्छेदकत्वं परम्. प्रदेशोऽपि न व्यवहारहेतुः तुल्यत्वात्. विवरे च व्यवहारः. अतः आकाशस्यैव. च कारात् पृथिव्यादिसर्वाधारत्वं च लक्षणम्. लक्षणान्तरम् आह प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वम् इति, प्राणानाम् इन्द्रियाणाम् अन्तःकरणस्य च धिष्ण्यम् आधारभूतं स्थानम्. 'धिष्ण्य' शब्देन वैदिकत्वं तस्य स्थानस्य द्योतितम्. नभसो वृत्तिलक्षणम् इति, नभोहि त्रिधा वर्तते : स्वस्य आधिभौतिकं रूपं स्वयं प्रयच्छतीति आधिदैविकत्वम्, बहिरन्तर्व्यवहाराश्रयम् इति आध्यात्मिकत्वं, देहान्तःस्थितपदार्थाश्रयत्वेन आधिभौतिकत्वम्॥३४॥

अनुवाद : अब आकाशका लक्षण, भूतोंको, प्राणियोंको अवकाश प्रदान करनेवाला, बाहर और भीतर रहा हुआ आधारस्थान, प्राण इन्द्रिय अन्तःकरण का आधारस्थान होना यह आकाशका लक्षण है. **आकाश** = अवकाश, जिसको बाहर और भीतर ऐसा व्यवहार आकाशके बारेमें होता है. पृथ्वी आदिके आवरणरूप आकाश भीतर और बाहर व्यवहारका विषय बन कर परिच्छेदक होता है. प्रदेश भी बाहर-भीतर व्यवहारका हेतु नहीं बनता, तुल्य होनेके कारण. विवरमें (छिद्रमें) ही व्यवहार संभव होता है. इसी कारण आकाश ही हेतु है. और पृथ्वी आदि सभीका आधार होना भी लक्षण है. दूसरा लक्षण देते हैं **प्राण इन्द्रिय और आत्मा का आधारस्थान होना;** प्राणोंका अर्थात् इन्द्रियोंका और अन्तःकरणका आधारभूत स्थान. **'धिष्ण्य'** शब्दप्रयोगके कारण वैदिकता उस स्थानकी बतायी. **आकाशकी वृत्तियोंका लक्षण** अर्थात्, आकाश तीन प्रकारसे रहता है. स्वयंका आधिभौतिकरूप स्वयं ही देनेके कारण आधिदैविकता, भीतर और बाहर होनेके बारेमें व्यवहारका आश्रय होना यह आध्यात्मिकता, देहके भीतर रहे पदार्थोंका आश्रय होनेके रूपमें आधिभौतिकता॥३४॥

॥ श्रीमद्भागवतदशमसुबोधिनी ॥

॥ नलकूबरमणिग्रीवकृतस्तुति ॥

(निरोधलीलान्तर्गत तामसप्रकरणके अवान्तर प्रमाणप्रकरणमें वैराग्यगुणलीलापरक दसवां अध्याय)

(भगवत्स्वरूपविवेचनपरक)

(समग्रस्तुतिका अर्थ)

(सुबोधिनीकारिका)

दशभिः प्राणभृच्छ्लोकैः चक्रतुः स्तोत्रम् उत्तमम् ॥
ज्ञानवैराग्ययोर् अत्र निर्णयः समुदीरितः ॥१॥
मूलरूपो भवान् पूर्वं जगद्रूपस् तथैव च ॥
मध्यरूपः इति त्रेधा ज्ञानरूपो निरूपितः ॥२॥
माहात्म्यज्ञापनार्थाय दुर्ज्ञेयत्वं च वर्णितम् ॥
सर्वरूपोऽपि सर्वस्मिन् गृह्यमाणैर् न गृह्यते ॥३॥
आध्यात्मिकस् ततो न अयं भौतिकोऽपि ततो नहि ॥
दैविकत्वेन सर्वः स्याद् द्वयं तस्मात् च जायते ॥४॥
अतः सर्वत्वकर्तृत्वे ज्ञानभक्ती फलिष्यतः ॥
अतो ज्ञानं निरूप्य आदौ भक्तिम् आहतुर् उत्तमाम् ॥५॥
अनेनैव च वैराग्यं ज्ञानाजनकता यदि ॥
तदा सर्वं परित्याज्यम् अन्यथा स्याद् विनाशनम् ॥६॥

अनुवाद : दशविध प्राणोंकी संख्याके जैसे इन दस श्लोकोंमें उत्तम प्रकारसे नलकूबर और मणिग्रीव दोनोंने भगवान्‌की स्तुति की ॥

यहां ज्ञान और वैराग्य के बारेमें निर्णय मिल रहा है ॥१॥

पहेले मूलरूप भगवान्‌का ज्ञान बादमें जगद्रूप भगवान्‌का ज्ञान ॥

ऐसे ही मध्यरूप भगवान्‌का भी ज्ञान यों तीनों प्रकारसे नलकूबर-मणिग्रीवको भगवान्‌का ज्ञान हो गया ऐसा वर्णन अभिप्रेत है ॥२॥

॥ श्रीमद्भागवतदशमसुबोधिनी ॥

॥ नलकूबरमणिग्रीवकृतस्तुति ॥

(निरोधलीलान्तर्गत तामसप्रकरणके अवान्तर प्रमाणप्रकरणमें वैराग्यगुणलीलापरक दसवां अध्याय)

(भगवत्स्वरूपविवेचनपरक)

(समग्रस्तुतिका अर्थ)

(सुबोधिनीकारिका)

दशभिः प्राणभृच्छ्लोकैः चक्रतुः स्तोत्रम् उत्तमम् ॥
ज्ञानवैराग्ययोर् अत्र निर्णयः समुदीरितः ॥१॥
मूलरूपो भवान् पूर्वं जगद्रूपस् तथैव च ॥
मध्यरूपः इति त्रेधा ज्ञानरूपो निरूपितः ॥२॥
माहात्म्यज्ञापनार्थाय दुर्ज्ञेयत्वं च वर्णितम् ॥
सर्वरूपोऽपि सर्वस्मिन् गृह्यमाणैर् न गृह्यते ॥३॥
आध्यात्मिकस् ततो न अयं भौतिकोऽपि ततो नहि ॥
दैविकत्वेन सर्वः स्याद् द्वयं तस्मात् च जायते ॥४॥
अतः सर्वत्वकर्तृत्वे ज्ञानभक्ती फलिष्यतः ॥
अतो ज्ञानं निरूप्य आदौ भक्तिम् आहतुर् उत्तमाम् ॥५॥
अनेनैव च वैराग्यं ज्ञानाजनकता यदि ॥
तदा सर्वं परित्याज्यम् अन्यथा स्याद् विनाशनम् ॥६॥

अनुवाद : दशविध प्राणोंकी संख्याके जैसे इन दस श्लोकोंमें उत्तम प्रकारसे नलकूबर और मणिग्रीव दोनोंने भगवान्‌की स्तुति की ॥

यहां ज्ञान और वैराग्य के बारेमें निर्णय मिल रहा है ॥१॥

पहेले मूलरूप भगवान्‌का ज्ञान बादमें जगद्रूप भगवान्‌का ज्ञान ॥

ऐसे ही मध्यरूप भगवान्‌का भी ज्ञान यों तीनों प्रकारसे नलकूबर-मणिग्रीवको भगवान्‌का ज्ञान हो गया ऐसा वर्णन अभिप्रेत है ॥२॥

तीन प्रकारसे ज्ञान हो जानेपर भी पूर्णतया भगवान्‌को जान पाना कठिन होनेसे भगवान्‌की दुर्ज्ञेयता दरसाने उनका माहात्म्य भी यहां वर्णित हुवा है॥

खुद भगवान्‌ने ही इस जगत्‌में सभी रूप धारण किये हैं तो भी उन सभी रूपोंमें अनुभूत होनेपरभी भगवान् खुद अनुभूत नहीं होते हैं॥३॥

यह सिर्फ आध्यात्मिक या आधिभौतिक रूपोंमें भगवान्‌को देखनेसे शक्य नहीं बन पाता॥

किन्तु आधिदैविक रूपमें भी भगवान्‌के दिखलायी देनेपर उपपन्न हो सकता है. भगवान्‌के ऐसे आधिदैविक स्वरूपमेंसे ही आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों स्वरूप प्रकट होते हैं॥४॥

अतः भगवान्‌का सर्वरूप तथा सर्वकर्ता होना, उपपन्न हो जाता है. एतावता अन्तमें ज्ञान और भक्ति फलित हो पाती हैं॥

इसी कारणसे पहेले ज्ञानका निरूपण करनेके बाद अन्तमें उत्तम प्रकारकी भक्तिका वर्णन किया गया है॥५॥

इन ज्ञान और भक्ति के कारण अन्तमें वैराग्य भी सिद्ध हो जाता होनेसे विषयवैराग्य विषयोंकी भगवदात्मकताके ज्ञानरूपमें यदि फलित न हो पाता हो तो॥

विषयोंका त्याग न करनेपर तो भगवद्‌भावका सर्वथा विनाश हो जाता है॥६॥

कारिका :

भक्तिसिद्धयैतु यज् ज्ञानं श्लोके षष्ठे निरूप्यते॥
अन्यथाभावशंकायाः व्यावृत्त्यर्थं भवान् परः॥७॥
भगवन्तं नमस्कृत्य गमनप्रार्थना कृता॥
तद् अयुक्तं भक्तिमतामिति भक्तिस्तु षड्गुणा॥८॥
भक्तैः सहैव सा कार्या परोक्षेणैव सिध्यति॥
गुप्तो रसस् तदा उद्‌बुद्धो रसतां याति न अन्यथा॥९॥

गुणप्रधानभावत्वम् एकत्र हि विरुध्यते॥
अतो अत्र भगवान् लीला स्वयं कर्तुं समुद्यतः॥१०॥
स्वस्यैव रसभोगार्थं परार्थं वा इति अनिर्णयः॥
ताभ्यां विमोचनं नैव शक्यं पक्षद्वयेऽपि हि॥११॥

अनुवाद : अतः भक्तिकी सिद्धिलिये जैसे ज्ञानकी अपेक्षा होती है भगवान्के वैसे स्वरूपका निरूपण छठ्ठे श्लोकमें किया गया है॥

नलकूबर-मणिग्रीवमें दूसरा कोई अन्यथाभाव तो कहीं नहीं था ऐसी शंका दूर करने॥७॥

उन्होंने भगवान्को नमस्कार करके जानेकी अनुज्ञा मांगी ऐसा वर्णन किया गया है॥

भगवान्को उलूखलमें बंधा हुवा छोड़ कर खुदके बारेमें वहांसे विदा हो जानेकी अनुज्ञा मांगनी किसी भी भक्तके लिये कैसे योग्य मानी जा सकती है! अतः भक्तिके छह गुण सूचित किये गये हैं॥८॥

भक्ति तो भक्तोंके साथ हिलमिल कर करनेकी होती है. अतः भगवान्की संनिधिमें भी या परोक्षमें भी कहीं भी की जा सकती है॥

भक्तिमें गुप्त रहा रस तभी उद्बुद्ध हो कर स्वयंकी रसरूपता प्रकट कर सकता है. दूसरी कोई रीत नहीं है॥९॥

इस अध्यायमें वर्णित लीलामें स्वयंकी भक्तवश्यता प्रकट करने भगवान् स्वयंकी इच्छासे उलूखलमें बंध कर भक्तिका आनंद प्रदान कर खुदकी गौणता प्रकट करना चाहते हैं; अथवा तो खुदकी ऐसी लीलामें प्रमुख बनके खुद उस भक्तिरसका आनंद लेना चाहते हैं? यह नलकूबर और मणिग्रीव भलीभांति निर्धारित नहीं कर पाये अतः॥१०॥

इस बारेमें किसी तरहका निर्णय इस स्तुतिमें दिया नहीं गया है. अतः दोनों पक्षोंमें कोई एक पक्ष स्पष्ट न था अतः वे भगवान्को उलूखलके बन्धनसे छुड़ानेकी हिम्मत नहीं जुटा पाये॥११॥

उत्थानिका : **पूर्वस्मृतिः सन्दिग्धेति तन्निर्णयार्थं भगवान् आगतः इति उक्तम्. सा स्मृतिः सर्वलोकप्रसिद्धा भवतु इति कृष्णस्वरूपं ज्ञातं निरूपयतः, ''ज्ञानी प्रियतमो अतो मे'' (भाग.पुरा.११।१९।३) इति वाक्यात्. अन्यथा सर्वैव स्तुतिः विरुध्यते.**

अनुवाद : इन यमलार्जुन वृक्षोंको अपने पूर्वजन्मकी स्मृति ठीक-ठीक थी अथवा नहीं, ऐसा यदि संदेह हो तो उसके निवारणके लिए भागवत कहती है कि स्वयं भगवान् पधारे. ऐसी पूर्वजन्मकी स्मृति यदि ना हो तो वृक्षयोनिमें पतित शापग्रस्त आत्मा श्रीकृष्णका स्वरूप किस प्रकार पहचान सकेंगी! इसलिए उनकी पूर्वजन्मकी स्मृति सभी लोकोंमें प्रसिद्ध हो इसलिए उन्होंने जैसा श्रीकृष्णका स्वरूप जाना वैसा निरूपण किया. क्योंकि **''ज्ञानी मुझे प्रियतम लगता है''** (भाग.पुरा.११।१९।३) ऐसा भगवान्ने स्वयं माना है. यदि इस कथाका अभिप्राय ऐसा ना लिया जाये तो यह समग्र स्तुति विरोधाभासी लगने लगेगी.

(कृष्णकी सर्वरूपता)

अवतरणिका : **तत्र प्रथमं पुरुषोत्तमो भवान् इति आहतुः :**

अनुवाद : अब इस स्तुतिमें सबसे पहले भगवान्को पुरुषोत्तमके रूपमें प्रतिपादित करते हैं:

श्लोक :

॥ नलकूबरमणिग्रीवौ उचतुः ॥

कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! त्वम् आद्यः पुरुषः परः ॥
व्यक्ताव्यक्तम् इदं विश्वं रूपं ते ब्रह्मणो विदुः ॥२९॥

॥ नलकूबर-मणिग्रीव बोले ॥

अनुवाद : **ओ कृष्ण! ओ कृष्ण! ओ महायोगी! आप आद्य**

परम पुरुष हो. ओ विश्वरूप ब्रह्म! जगत्में अनुभूत होते व्यक्त या अव्यक्त दोनों रूपोंको धारण करनेवाले भी आप ही हो।।२९।।

सुबोधिनी : कृष्ण! कृष्ण! इति, आदरे वीप्सा. कृष्णः सदानन्दः, सएव कृष्णनामा च. उभयविधाज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा तथा उक्तम्. आकृत्या चेष्टया च न आवयोः भ्रमः इति आहतुः महायोगिन् इति. लौकिकाअपि नानायोगचर्यायां प्रवृत्ताः हीनभावं न प्राप्नुवन्ति, कुतः पुनः निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः? अतो नामरूपे वर्णनीये अर्थे न बाधके. आद्यः इति, मूलभूतत्वमेव महत्त्वं, सर्वैः हि स्वापेक्षया महत्त्वं ज्ञातव्यम् आद्यस्तु तथा. आद्यत्वं मतान्तरे अचेतनस्यापि सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थम् आह पुरुषः इति. सांख्यतुल्यताम् आशंक्य आहतुः परः इति पुरुषोत्तमः इति अर्थः. निराकारपक्षनिवृत्त्यर्थं 'पुरुष'पदं, तस्मिन् पक्षे अयं विकृतो भवेदेव. परः कालादीनामपि नियन्ता.

एवं भगवतो मूलरूपत्वं निरूप्य कार्यरूपाभावे मूलरूपत्वं न उपपद्यतइति कार्यस्य च अन्यथात्वे तस्य गौणत्वम् अविकृतत्वम् असंगित्वं च विरुध्यतइति कार्यरूपमपि त्वमेव इति आहतुः व्यक्ताव्यक्तम् इदम् इति. इदं सर्वमेव जगद् द्विरूपमेव भवति. कालेन अपरिगृहीतम् अव्यक्तं भवति. परिगृहीतं व्यक्तं भवति. आकाशपरमाण्वादीनामपि व्यक्तता इति केचित्. तदा सर्वमेव जगत् कालादितृणस्तम्बान्तं व्यक्तम् अव्यक्तं च भवति. अवयुत्या अनुवादो वा. उभयथापि इदं जगत् तवैव रूपम्. अत्र प्रमाणम् आहतुः ब्रह्मणो विदुः इति, ब्रह्मणो वेदाद्, ब्राह्मणाः इति वा. ते ब्रह्मणः इति वा. तदा सर्वाएव श्रुतयः प्रमाणम् इति उक्तं भवति. रूपम् इति स्वरूपं निरूपकं वा।।२९।।

अनुवाद : कृष्ण! कृष्ण! इस प्रकार दो बार किये गये संबोधन द्वारा श्रीकृष्णके प्रति अपना आदर ये दोनों व्यक्त करना चाहते हैं. कृष्ण = सद्+आनन्द, उस सदानन्दका नाम भी 'कृष्ण' है. आत्मा

और परमात्मा दोनोंका अज्ञान निवृत्त करनेके लिए भी दो बार नामोच्चारण करनेमें आया है. भगवान्‌की प्राकृत बालक जैसी आकृति और चेष्टा के कारण हम भ्रान्त नहीं हुए हैं, यह दिखानेके लिए श्रीकृष्णको **'महायोगी'** कह रहे हैं लौकिक पुरुष भी नाना प्रकारकी योगचर्या (अनेक विध रूप धारण करके विहार) जब करते हों और उनमें यदि हीनता प्रकट ना होती हो तो सर्वथा दोषरहित पूर्ण गुणोंवाले भगवान्‌में ऐसे किसी कारणसे हीनता कैसे मानी जा सकती है? इसीलिए भगवान्‌के नाम और रूप उन्हें धारण करनेवाले तत्त्वके वर्णनमें आड़े नहीं आते. ऐसे भगवान्‌को **'आद्य'** कहना, यह जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके मूलभूत होनेके महत्त्वको प्रकट करता है, सभीको अपनी तुलनामें भगवान्‌का विशेष महत्त्व जान लेना चाहिये, **आद्य** होनेसे उसका महत्त्व प्रकट हुआ. जैसे कि अन्य मतोंके अनुसार अचेतन पदार्थ भी आद्य हो सकते हैं, इस तरह उनकी मान्यताके अनुसार यहां भी कहा जा रहा होगा, ऐसी मिथ्या धारणाको दूर करनेके लिए यहां भगवान्‌को **'पुरुष'** कहा. इसके कारण सांख्यमतमें मान्य अनेक पुरुषोंमेंसे एक पुरुष कोई भगवान्‌को भी ना मान ले, इसलिए **'पर'** विशेषण जोड़ कर उन भगवान्‌को 'पुरुषोत्तम' कह रहे हैं. पर तत्त्व होनेके कारण कोई निराकार ना मान ले अत: **'पुरुष'** पदका प्रयोग किया गया है, क्योंकि जो परतत्त्व निराकार हो तो अविकारी होनेके बजाय मायाके कारण विकारी सिद्ध ही होगा. भगवान्‌को **'पर'** कहा इससे काल कर्म स्वभाव प्रकृति अथवा पुरुष सभीके नियामक भगवान् सिद्ध हो जाते हैं.

इस प्रकार भगवान्‌के मूलरूपका निरूपण करनेके बाद यदि कार्य प्रकट ना होता हो तो किसी वस्तुका मूलरूप उत्पन्न ही नहीं हो पाता. और कार्य भी यदि कारणसे विपरीत प्रकारका हो तो ऐसे कारणको गौण ही मानना पड़ेगा. उससे कारणका अविकृत और असंगी होना विरुद्ध सिद्ध होगा. इसलिए कार्यरूप भी स्वयं भगवान् ही

हैं यह **'आप'** कह कर प्रकट किया. **''जगत्में अनुभव होते व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूप''** कहा. **'इस'** कहा इससे यह सम्पूर्ण जगत् द्विरूप है. काल द्वारा अपरिगृहीत **अव्यक्त** रह जाता है जबकि परिगृहीत **व्यक्त** होता है. कितने लोग ऐसा मानते हैं कि आकाश परमाणु आदि भी व्यक्त होते हैं. तब सम्पूर्ण जगत्की प्रत्येक वस्तु, कालसे ले कर तृण पर्यन्त **व्यक्त** और **अव्यक्त** भी मानी जा सकती है. प्रत्येक जागतिक पदार्थको एकमेक करके अनुवाद करनेसे यह अर्थ भी स्फुरित होता है. किसी भी प्रकारसे यह दृश्यमान जगत् भगवान्का रूप ही है. इस बारेमें प्रमाण देते हैं **'ब्रह्म'** कह कर. इस शब्दका अर्थ वेद लेना चाहिये अथवा उसे जाननेवाले ब्राह्मण लेने चाहिये. अथवा तो **आप ब्रह्म हो** ऐसा कहना चाहते हैं. ऐसा कहनेपर सारे श्रुतिवचनोंको प्रमाणके रूपमें लिया जा सकता है. **रूप** अर्थात् स्वरूप अथवा निरूपक॥२९॥

(आधिदैविक प्रकारसे भी कृष्णकी सर्वरूपता)

अवतरणिका : **एवं सर्वरूपत्वं भगवतो निरूप्य आधिदैविकप्रकारेणापि सर्वरूपत्वम् आहतुः :**

अनुवाद : इस प्रकार भगवान् सर्वरूप हैं यह निरूपण करके आधिदैविक प्रकारसे भी भगवान्की सर्वरूपता प्रतिपादित की है :

श्लोक :

त्वम् एकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ॥
त्वमेव कालो भगवान् विष्णुर् अव्ययः ईश्वरः ॥३०॥

अनुवाद : **आप अकेले ही सभी प्राणिओंके देह निजात्मा इन्द्रिय और उनके ईश्वर भी हो. आप ही काल भगवान् विष्णु अव्यय ईश्वर भी हो॥३०॥**

सुबोधिनी : त्वम् एकः इति, तत्तदाधिदैविकानां भेदो भविष्यति इति आशंक्य आहतुः एकः इति. देवादीनाम् उत्तमत्वात् तदाधिदैविकत्वम् अस्तु, कृमिकीटाधिदैविकत्वन्तु न भविष्यति इति आशंक्य आहतुः सर्वभूतानाम् इति. आब्रह्मतृणस्तम्बान्तजातिभेदानां देहाः असवः प्राणाः आत्मा अन्तःकरणम् इन्द्रियाणि ईश्वरो जीवः, स्वात्मा जीवो वा. 'इन्द्रिय'पदेन प्राणाः इन्द्रियाणि अन्तःकरणं च. ईश्वरः अन्तर्यामी, आधिभौतिकादीनाम् ईश्वरो वा, देहद्वयसहितजीवस्य वा.

नियामकत्वपक्षे भिन्नतया कालादीनामपि तथात्वम् इति कालादिरूपताम् आहतुः त्वमेव कालः इति. कालो भगवच्चेष्टा इति केचिद्, वस्तुतस्तु त्वमेव कालः. तत्र हेतुम् आहतुः भगवान् इति. ऐश्वर्यं सर्वस्यापि कालकृतमेवेति कालएव ईश्वरः; तथा बलमपि; तारुण्यएव बलं, तपोयोगादिभिरपि कालपुष्टैरेव बलं सिध्यति. यशोऽपि कालएव, नहि सर्वदा कस्यचिद् यशो भवति. एवम् अन्येऽपि गुणाः, कालान्वयव्यतिरेकात्. कालएव षड्गुणहेतुरिति गम्यते. ननु कालस्तु विष्णवात्मको; योहि व्यापको भवति स कलयति, नहि यो यं व्याप्तुं न शक्नोति स कलयति, अतो विष्णुरेव कालो न अन्यः इति आशंक्य आहतुः विष्णुः इति. त्वमेव विष्णुः आधिदैविकः कालो, यज्ञरूपो वा, पालको वा सत्त्वात्मकः. तस्य भिन्नत्वे भगवतः तदधीनत्वं स्यात्. अव्ययो अक्षरमपि त्वमेव, अन्यथा भगवतः समवायित्वं न स्यात्. अक्षरमेव हि समवायिकारणं, प्रकृतिपुरुषोपादानत्वात्. ''सर्वं समाप्नोषि ततो असि सर्वं'' (भग.गीता ११।-४०) इति सर्वत्वम् अन्यथापि उपपद्यते. वस्तुनः परिच्छेदकत्वं न सर्ववादिसम्प्रतिपन्नम्. अतो अक्षरो भगवानेव ईश्वररूपमपि अन्तर्यामीरूपं भिन्नरूपं वा अधिकारित्वेन निर्दिष्टं, यस्य असाधारणो धर्मः ऐश्वर्यं भवति॥३०॥

अनुवाद : **'आप अकेले'** अर्थात् जागतिक नाम-रूप-कर्मोंके उन-उन आधिदैविक रूप अलग-अलग कदाचित् माने जा सकते हैं, ऐसी

धारणाको दूर करनेके लिए कहते हैं **'एकमात्र'**. देव आदि भी उत्तम तो होते हैं इसलिए उन्हें भी आधिदैविक माना जा सकता है, पर कृमि अथवा कीड़ों के आधिदैविक रूपको किस प्रकार भगवान् माना जा सकता है? उसके उत्तरमें **'सभी प्राणियोंके'** कहते हैं. ब्रह्माजीसे ले कर तृण पर्यंत तक जो भी भिन्न पदार्थ हो सकते हैं, वे सभी **देह प्राण** और **आत्मा** अर्थात् अन्तःकरण **इन्द्रिय** और **उनका ईश्वर** जीवात्मा, अथवा तो **'निजात्मा'**. **'इन्द्रिय'** पदका अर्थ प्राण इन्द्रिय और अन्तःकरण. अथवा **'ईश्वर'** पदका अर्थ अन्तर्यामी लेना चाहिये, अर्थात् आधिभौतिक आदि पदार्थोंके ईश्वर अथवा तो सूक्ष्म और स्थूल देहवाले जीवके ईश्वरकी तरह लेना चाहिये.

भगवान्को सबके नियामक मान कर भिन्नतया लें तो काल आदि की तरह भगवान् भी अन्यतम नियामक हो जायेंगे. ऐसी धारणाके निरसनके लिए भगवान्को काल आदि सभी नियामकोंके रूपमें प्रतिपादित कर रहे हैं, **'भगवान्'** शब्दके प्रयोगके द्वारा. किसी-न-किसी कालमें ही किसी ऐश्वर्य टिकता है, अर्थात् कालाधीन होता है. इसलिए वैसे कालरूप भी स्वयं भगवान् ही हैं. काल स्वयं भी ईश्वर होता है. जैसे तरुणावस्थामें सामान्य रीतिसे बल होता है, तप योग आदि से भी किसी-न-किसी कालमें ही बल प्रकट होता है. यश भी किसी-न-किसी कालमें ही होता है, हमेशा हर किसीका यश टिका नहीं रहता. इसी प्रकार दूसरे गुण भी, कालसे घिरे होनेके कारण कालके छह के छह हेतु यहां स्वीकारे गये हैं. यहां एक शंका उठती है कि जो व्यापक हो वही आकलन कर सकता है. जो कोई जहां व्यापक हो कर विद्यमान ना हो, वह उसका आकलन कर नहीं सकता. इसलिए कालको विष्णुके रूपमें ही वर्णित करनेमें आया है. इसलिए कालको विष्णुसे अलग नहीं गिनना चाहिये इस आशंकाके समाधानके लिए **'विष्णु'** शब्दका प्रयोग किया गया है. **भगवान्** और **विष्णु** भी आप ही हो. आधिदैविक कालरूपमें अथवा

यज्ञरूपमें अथवा सत्त्वात्मक होनेके कारण जगत्के पालनकर्ताके रूपमें भी. यह सभी पदार्थ यदि भिन्न-भिन्न हों तो कोई व्यक्ति भगवान्को भी इनके आधीन मान सकता है. **'अव्यय'** कहनेसे अक्षररूप भी भगवान् स्वयं हैं. क्योंकि यदि अक्षरब्रह्मके रूपमें भगवान् स्वयं ना हों तो भगवान् इस जगत्के समवायी ही नहीं हो सकते. इस जगत्का समवायी कारण अक्षरब्रह्म होता है, प्रकृति और पुरुष दोनोंका उपादान होनेके कारण **''हे भगवान् आप सभीमें व्याप्त हैं इसलिए सभी आपके रूप हैं''** (भग.गीता ११।४०) इस प्रकार भगवान्की सर्वरूपताका अन्यथा व्याख्यान हो सकनेके कारण सचमें तो भगवान् सर्वरूप नहीं हैं, ऐसी शंका खड़ी हो सकती है. इसलिए सर्वदेश और सर्वकाल में विद्यमान होना व्यापक होनेका सच्चा स्वरूप है. सर्वरूप होना सभी वादियोंको मान्य नहीं है. इसलिए अक्षररूपमें भी भगवान्का ही वर्णन कर रहे हैं. **ईश्वरके** रूपमें अथवा अन्तर्यामीके रूपमें अथवा भिन्न किसी अधिकारीके रूपमें निर्दिष्ट जो कुछ भी है, उसे भगवान्के ही असाधारण धर्म ऐश्वर्य रूप जानना चाहिये॥३०॥

(आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक पहलुओंमें सर्वरूपता)

अवतरणिका : **एवम् आधिदैविककालादिरूपत्वं निरूप्य आध्यात्मिकत्वम् आधिभौतिकत्वं च निरूपयितुं मध्यमभावं निरूपयति :**

अनुवाद : ऐसे आधिदैविक काल आदि रूपोंमें भगवान्का निरूपण करके अब आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूपसे भी भगवान्का निरूपण करनेके लिए मध्यम रूपका वर्णन कर रहे हैं :

श्लोक :

त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी॥
त्वमेव पुरुषो अध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित्॥३१॥

अनुवाद : आप महत् तत्त्व हो, रजोगुण सत्त्वगुण और तमोगुण रूपा सूक्ष्मा प्रकृति भी आप ही हो. सभी क्षेत्रोंके ज्ञाता और अध्यक्ष ऐसे पुरुष भी आप ही हो।।३१।।

सुबोधिनी : त्वं महान् इति, सर्वस्यापि जगतो अंकुरभूतो महान्. तस्यापि क्षेत्ररूपं प्रकृतिः. तस्याअपि कार्योत्पत्तिसाधारणरूपं योनिवद् या प्रकृतिः सा सूक्ष्मा. तस्याअपि मूलभूता गुणाः, तन्मयी आधिदैविकी प्रकृतिः गुणाः च त्वमेव. एवं पञ्चरूपत्वम् उक्तम्. एवं योनिरूपत्वम् उक्त्वा बीजरूपत्वम् आहतुः त्वमेव पुरुषः इति, तस्याः प्रकृतेः पुरुषः तस्याः तावत्त्वसम्पादकः. अध्यक्षः साक्षी, साक्षिरूपं भिन्नम् इति सिद्धान्तः. क्षेत्रज्ञः च तथा क्षेत्राभिमानी जीवः, सोऽपि क्षेत्रज्ञो भवति; क्षेत्रं जानातीति व्युत्पत्त्या यः क्षेत्रज्ञः स मुख्यो भवान्. एतावता यत्रैव प्रमाणप्रवृत्तिः केनापि प्रकारेण तदेव भवान् इति उक्तम् भवति।।३१।।

अनुवाद : आप महत् तत्त्व हो अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के अंकुरभूत महत् तत्त्व हो क्षेत्ररूप प्रकृति. उस महत् तत्त्वरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिए योनिरूप जो प्रकृति वो सूक्ष्म होती है. उसके भी मूल तीन गुण होते हैं, ऐसी त्रिगुणमयी प्रकृति आधिदैविक ऐसी प्रकृति भी स्वयं भगवान्का ही एक रूप है. ऐसे पांच रूपोंसे प्रतिपादित किया. अर्थात् उसे 'योनिरूप' कह कर उस योनिमें बीजरूप भी भगवान्को प्रतिपादित करनेके लिए कहते हैं आप ही पुरुष भी हो और प्रकृति भी अर्थात् प्रकृतिके इतने सारे रूप धारण करनेवाले आप ही हो. 'अध्यक्ष' अर्थात् साक्षि-सिद्धांतके अनुसार साक्षी भिन्न होता है. क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्राभिमानी जीव, वह भी क्षेत्रज्ञ बन जाता है; क्षेत्रको जाननेवाला ऐसी व्युत्पत्तिके आधारपर जो क्षेत्रज्ञ हो ऐसे मुख्य क्षेत्रज्ञ तो भगवान् स्वयं हैं. इससे सिद्ध होता है कि प्रमाणसिद्ध जो कोई भी वस्तु हो वह स्वयं भगवान् ही हैं।।३१।।

(कृष्णकी प्रत्यक्षग्राह्यताका निराकरण)

अवतरणिका : **तत्प्रमाणं श्रुतिरेव, नतु प्रत्यक्षमिति अलौकिकत्वसम्पादनार्थं भगवतः प्रत्यक्षग्राह्यत्वं निराकरोति :**

अवतरणिका : सच्चे प्रमाण तो श्रुतिके वचन ही होते हैं. यहां शंका होती है कि प्रत्यक्ष किसलिए नहीं? इसके उत्तरमें कहते हैं कि प्रत्यक्षग्राह्य तो लौकिक विषय होते हैं जबकि भगवान् तो अलौकिक विषय होनेके कारण प्रत्यक्षसे ग्राह्य नहीं हैं :

श्लोक :

गृह्यमाणैस् त्वम् अग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर् गुणैः ॥
कोनु इह अर्हति विज्ञातुं प्राक् सिद्धं गुणसंवृतः ॥३२॥

अनुवाद : **प्रकृतिके विकारोंके गुण जो प्रत्यक्षग्राह्य होते हैं. उनके प्रत्यक्षमें भगवान् खुद गृहीत या अनुभूत होते या नहीं? होनेपर भी नहीं होते. अतः ऐसे प्राकृत गुणोंसे ढंके हुवे और उन प्राकृत गुणोंसे पूर्वसिद्ध भगवान्को कहो कि कौन भलीभांति जान सकता है? ॥३२॥**

सुबोधिनी : **गृह्यमाणैः इति, गृह्यमाणैः घटपटादिभिः कृत्वा त्वम् अग्राह्यः तद्रूपोऽपि तैः गृहीतैः न गृहीतो भवसि. नवा तैः सह, तेषां धर्माणां त्वदाश्रयाणां धर्म्याश्रयसहभाननियमात्. तत्र हेतुः विकारैः इति, विकारे हि प्रकृतिः न प्रतीयते, यथा सन्निपाते. तत्र प्राकृतः तिरोभवति. स्वप्रकाशमेव हि जडैः सह भासते यथा ज्ञानं विषयैः, तथा भगवानपि विषयान् प्रकाशयन् विषयैः सह कुतो न भासते इति चेत् तत्र आहतुः प्राकृतैः इति, प्रकृतिर्हि जडा पुरुषाच्छादिका, प्रकृतौ प्रविष्टं पुरुषं न प्रकाशयति. तथा प्राकृतैरपि तत्र स्थितो भगवान् आच्छाद्यतइति न भगवान् गृह्यते. ज्ञानन्तु अन्यनिष्ठम्. ननु पुरुषो भगवान् प्रकृतिं स्त्रियम् उपमर्द्य कथं न प्रकाशते इति आशंक्य आहतुः गुणैः इति,**

गुणाहि बन्धकाः रञ्जकाः च. अतः प्रकृतौ प्रविष्टः तद्गुणानुरक्तः तद्गुणैः वशीक्रियते इति तैः सह न प्रकाशते.

ननु गुणाः साम्प्रतमेव जाताः, भगवांस्तु मूलभूतइति गुणक्षोभात् पूर्वमेव ज्ञात्वा उत्तरत्रापि तदनुवृत्तिः कथं न क्रियते? इति आशंक्य तत् परिहरन्तौ भगवान् तथैव करोति इत्यत्र हेतुं वदन्तौ तादृशस्य भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वम् आहतुः को नु इह अर्हति इति. इह अस्मिन् संसारे, नु इति वितर्के; पश्चाद् उद्भूतः को वा प्राक् सिद्धं गुणक्षोभात् पूर्वस्थितं विज्ञातुम् इदमित्थतया द्रष्टुम् अर्हति! अपितु न कोऽपि. ननु अयमपि आत्मत्वाद् न इदानीं सिद्धः कुतो न अर्हति? इति चेत् तत्र आहतुः गुणसंवृतः इति, गुणैः वेष्टितः. गुणाःहि पूर्वबुद्धिं दूरीकृत्य स्वरूपमपि आवृतवन्तः, अतो ज्ञातृज्ञेययोः आवरणाद् न ज्ञानं सम्भवति॥३२॥

अनुवाद : **ग्रहीत अथवा अनुभूत होते** अर्थात् **प्रत्यक्षसे ग्रहीत होते** घट-पट पदार्थोंके कारण भगवान् स्वयं अग्राह्य बन जाते हैं. घटरूप अथवा पटरूप होनेपर भी घट अथवा पट के रूपोंमें भगवान् ग्रहीत अर्थात् अनुभवमें नहीं आते. ना ही उन घट-पटादिके साथ अनुभवमें आते हैं. उन-उन धर्मोंका भान उनके धर्मी अथवा आश्रयों के साथमें होना आवश्यक होने पर भी स्वयं भगवान् धर्मी अथवा आश्रय रूपमें अवभासित नहीं होते. उसमें हेतु उन धर्मोंका **विकार** होना है. विकार (जैसे दूधका विकार दही होता है. अथवा वात-पित्त-कफके एकसाथ होता सन्निपात रोगमें वात-पित्त-कफ प्रकट नहीं हो पाते) सन्निपात रोगमें जिस प्रकार वात-पित्त-कफ रूपी तीन शरीरघटक धातुओंका समप्रमाण होना तिरोहित हो जाता है. किसी भी स्वप्रकाश वस्तुका उसके द्वारा प्रकाशित होती जड़ वस्तुओंके साथ भान होता है. जैसे कि ज्ञानका विषयोंके साथ भान होता है. उसी प्रकार भगवान् भी विषयोंका प्रकाशन करते हुए स्वयं क्यों नहीं प्रकाशित हो सकते? इसका समाधान देते हैं कि **प्राकृत** अर्थात् प्रकृति तो जड़ होनेके

कारण पुरुषोंकी आच्छादिका होती है, प्रकृति अपनेमें प्रविष्ट पुरुषको प्रकाशित नहीं कर पाती. उसी प्रकार प्राकृत पदार्थोंके भीतर विराजमान भगवान् आच्छादित हो जानेके कारण अनुभवमें नहीं आते. अनुभवमें नहीं आते क्योंकि ज्ञान स्वयं अन्यनिष्ठ है. शंका हो सकती है कि पुरुषरूप होनेके कारण भगवान् स्त्रीरूप प्रकृतिकी सामर्थ्यका उपमर्दन करके क्यों प्रकाशित नहीं हो पाते? समाधानमें कहते हैं कि **प्राकृत गुणोंवाले** ऐसे पदोंका प्रयोग द्वारा ध्वनित होता है कि गुण, बन्धनकर्ता भी होते हैं और रंजक भी होते हैं. इसलिए प्रकृतिके भीतर प्रविष्ट हो कर उनके गुणोंमें अनुरक्त हो जानेके कारण उन गुणोंके वशीभूत हो कर उन गुणोंके साथ पुरुष प्रकाशित नहीं हो पाता.

यहां एक ऐसी शंका होती है कि गुण तो बादमें प्रकट हुए हैं, उन गुणोंमें वैषम्य अथवा क्षोभ उद्भव हो उससे पहले ही पुरुष भगवान्को जान कर, बादमें पहेचान क्यों नहीं पाता? इसके समाधानमें कहते हैं कि भगवान् ऐसा इस लिये करते हैं कि वे भगवान् भक्तिमार्गके प्रवर्तक बनना चाहते हैं. **कौन यहां जान सकता है?** ऐसा कह कर, 'यहां'=इस संसारमें, इस बारेमें चाहे जितना तर्क-वितर्क करके देख लो. बादमें उद्भूत हुए उन पूर्वसिद्ध भगवान्को अर्थात् गुणोंके क्षोभसे पूर्व-स्थित भगवान्को भली प्रकारसे जान कर अर्थात् "यह इस प्रकारका है" वैसे देख नहीं पाते हैं! यदि ऐसा कहो कि भगवान् भी तो आत्मा हैं अत: जिसका यहां उद्भव हुआ वह क्यों भगवान्को देख नहीं सकता? इसके समाधानमें कहते हैं कि **गुणोंसे ढके होनेके कारण** अर्थात् गुणों (डोरों) से बंधे होनेके कारण. गुण मूलभूतरूपमें वस्तु जैसी होती है उसे ढंक देते हैं. बुद्धि उसे अनावृत करके मूलस्वरूपको दिखा पाती परन्तु ज्ञाता और ज्ञेय दोनों आवरणमें ढके होनेके कारण ज्ञान हो नहीं पाता है॥३२॥

(आत्मप्रकाशितगुणोंके कारण भगवान् अप्रकट)

अवतरणिका : **तर्हि कथं निस्तारः ? इति चेत् तत्र आहतुः :**

अनुवाद : यदि ऐसा भगवान्का स्वरूप हो तो निस्तार किस प्रकार होगा ऐसी शंकाका समाधान देते हैं :

श्लोक :

तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे।
आत्मद्योतैः गुणैश् छन्नमहिम्ने धीमहि नमः ॥३३॥

अनुवाद : **सभीके विधाता ऐसे आप भगवान् वासुदेवको, जो खुदके कारण अनुभूत होते गुणोंसे अपनी महिमाको ढंक देनेवाले ब्रह्म हो उसे नमस्कार! ॥३३॥**

सुबोधिनी : **तस्मै तुभ्यम् इति, केवलं तस्मै सर्वदुर्ज्ञेयाय तुभ्यं नानाविनोदयुक्ताय नमः. ननु "तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति" (श्वेता.उप.३।८) इति श्रुतेः कथं भगवदज्ञाने निस्तारः ? इति चेत् तत्र आहतुः भगवते इति, भगवज्ज्ञानगुणेन भगवज्ज्ञानम्. अज्ञातोऽपि प्रमेयबलेन निस्तारयतीति भक्तिः तत्र प्रयोजिका. "यस्य अमतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सो, अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्" (केनोप.२।३) इति श्रुत्या अज्ञातएव ज्ञातो भवति. अतो भगवान् ईश्वरः केन ज्ञातुं शक्यः! किञ्च प्रमाणबलेन अज्ञातोऽपि स्वतो ज्ञातुं शक्यो, यतो अयं वासुदेवः वसुदेवे शुद्धे सत्त्वे आविर्भवतीति. आविर्भूतस्तु सर्वैरेव ज्ञातुं शक्यः. ननु एतदेव सर्वं कुतो भवेत्—साधनपरता साधनोत्पत्तिः सत्त्वशुद्धेः आविर्भावः इति ? तत्र आहुः वेधसः इति, सहि सर्वं विदधाति, अन्यथा तेन कृतः तन्मार्गो व्यर्थः स्यात्. धीमहि नमः इति वा. हृदये प्रत्यक्षे भगवति तत्पादयोः शिरः स्थापयित्वा मनसा यत् नमनं तत् सोपस्करं धीमहि इति अर्थः.**

अतः अन्तःकरणप्रत्यक्षएव भगवान् न बहिःप्रत्यक्षविषयः. तर्हि बहिः न अस्ति इत्येव मन्तव्यं, तत्र आहतुः आत्मद्यौतैः गुणैः छन्नमहिम्ने इति, आत्मना स्वेनैव द्यौतो येषाम्. गुणाअपि भगवतैव प्रकाश्यन्ते यथा सूर्येण मेघाः. तएव तस्य आवरकाः भवन्ति. नहि गाढान्धकारे निशायां मेघाः दृश्यन्ते. एवं सर्वैरेव विषयैः आत्मनैव प्रकाशितैः छन्नो महिमा यस्य. अतो न प्रकाशते, वस्तुतस्तु वर्ततएव सर्वत्र. अन्तर्बहिःस्थितौ हेतुम् आहतुः ब्रह्मणः इति, ''बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाद् ब्रह्म'' (द्रष्ट.विष्णुपुरा. १।१२।५५); अतः सर्वत्रैव वर्तसे परम् अन्तरेव प्रकाशसे न बहिः इति॥३३॥

अनुवाद : **ऐसे आपको** अर्थात् सबके लिए दुर्ज्ञेय ऐसे आपको नाना प्रकारके विनोदोंसे युक्तको **मेरा नमन!** भगवान् यदि दुर्ज्ञेय हों तो **''उस परमात्माको जाने बिना मृत्युकी नियतिको कोई तोड़ नहीं सकता''** (श्वेता.उप.३।८). इस श्रुतिके आधारपर भगवान्के ज्ञानके बिना तो निस्तार शक्य ही नहीं है? ऐसी शंकाका समाधान करते हैं **'भगवान्'** कह कर, जीवात्मा अपने ज्ञानसे नहीं परन्तु भगवान्के छह गुणोंमें जो ज्ञान रूपी गुण है उस गुणके कारण भगवान्को जान सकता है. यदि भगवान्का ज्ञान अच्छी तरहसे नहीं हुआ तो भी भक्तिके कारण प्रमेयबलसे परमात्मा जीवात्मा उद्धार कर सकते हैं. उसमें प्रयोजिका भक्ति बन जाती है **''जो भगवान्को मान नहीं रहा है वही सचमुचमें उन्हें मान रहा है. जो मान रहा है वह भी जान तो नहीं पाता. क्योंकि जिसे लगता है कि 'मैं जानता हूं' वह हकीकतमें जान नहीं रहा है पर जिसे लगता है कि 'मैं जान नहीं पाया' वह अवश्य ही उसे किसी अंशमें जान पाया है''** (केनोप.२।३). इस श्रुतिवचनके आधारपर हकीकतमें तो भगवान्को अज्ञाततया जानना ही सच्चा ज्ञान है. इसीलिए कह रहे हैं कि भगवान् ईश्वरको कौन जान सकता है? प्रमाणोंके आधारपर अज्ञात भगवान्को भी उनके अपने प्रमेयबलसे ही पहचाना जा सकता है, क्योंकि वह भगवान् वासुदेव भी है. अर्थात् वसुदेव रूपी शुद्ध सत्त्वमें आविर्भूत होते

हैं. और जब वे कभी आविर्भूत हो जाते हैं तो सभी भगवान्‌को जान सकते हैं. ऐसे साधनपर अर्थात् कि साधनोंसे उत्पन्न होनेवाली सत्त्वशुद्धिके कारण आविर्भूत होनेके नियममें बंधे हुए भगवान् किसलिए होते हैं? उसके समाधानमें कहते हैं कि भगवान् सबके विधाता हैं. जो कुछ भी हो रहा है उसके विधाता तो भगवान् ही हैं, नहीं तो उनके द्वारा प्रकट किया हुआ मार्ग व्यर्थ हो जायेगा. **उन्हें नमन करके उनका ध्यान धरते हैं.** अपने हृदयमें अनुभव होते भगवान्‌के चरणकमलों पर शीश नमा कर मनके भीतर जो नमन किया जाता है वह सांगोपांग ध्यान माना जानना चाहिये.

इसीसे भगवान्‌का प्रत्यक्ष अन्तःकरणमें होता है, बाहर प्रत्यक्ष नहीं होता. तो बाहर क्या भगवान् बाहर विद्यमान नहीं? इसके खुलासेमें कहते हैं **''जो अपने ही कारण अनुभवमें आते गुणोंसे स्वयंकी महिमाको ढक कर रखते हैं वैसे''** कह कर 'अपना' अर्थात् अपने कारण ही **द्योतन** भासित हो ऐसे, गुणोंका भी प्रकाश भगवान्‌के कारण ही होता है. जैसे सूर्यके कारण बद्दल दिखते हैं और वही बद्दल सूर्यको ढक भी लेते हैं. रात्रिके गहन अंधकारमें बद्दल दिखलायी नहीं देते. इसी प्रकार अपने कारण जो सभी विषय प्रकाशित होते हैं, उन विषयोंके कारण ही भगवान्‌की महिमा ढक जाती है. इसी कारण भगवान् बाहर प्रकाशित नहीं होते. हकीकतमें तो भगवान् भीतर-बाहर सभी जगह विद्यमान हैं. भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान होनेका हेतु **ब्रह्म** कह कर बता रहे हैं **''बृहत् होनेसे वर्धनशील होनेसे 'ब्रह्म' कहनेमें आया है''** (द्रष्ट.विष्णुपुरा.१।१२।५५); इसलिए होता तो वह सर्वत्र ही है पर प्रकाशन अथवा भान तो भगवान्‌का भीतर ही होता है॥३३॥

(भगवदवतारोंके बहिःदर्शनका प्रकार)

अवतरणिका : **तर्हि कथम् अवताराद् बहिः प्रकाशरूपो भगवान् भवति?**

इति तत्र आहतुः :

अनुवाद : यदि सचमें ऐसा ही हो तो भगवान्के अवतार भी बाहर नहीं दिखने चाहिये इस संदेहका निराकरण करनेके लिए कहते हैं :

श्लोक :

यस्य अवताराः ज्ञायन्ते शरीरेषु अशरीरिणः ।।
तैः-तैः अतुल्यातिशयैः वीर्यैः देहिषु असंगतैः ।।३४।।

अनुवाद : अशरीरी भगवान्के अवतार जो शरीरोंके साथ अनुभूत होते हैं. वे किसी भी देहधारीके साथ संगत न होते ऐसे अतुलनीय निरतिशय सामर्थ्यवाले होते हैं।।३४।।

सुबोधिनी : यस्य अवताराः इति, मत्स्यादिषु शरीरेषु क्वचिदेव मत्स्यविशेषे अलौकिकभावो दृश्यते. सच न जीवधर्मो भवति इति अशरीरिणः तव तेषु अवताराः इति ज्ञायन्ते. अशरीरिणः इति वचनात् शरीराकृतिरेव तत्र प्रकाशते नतु तच्छरीरम्, अन्यथा वृद्धिः न उपपद्यते. सामर्थ्यं परम् अधिकं भवेत्. तस्मात् शरीराकारेण भासमानं भगवद्रूपमेव इति. न तुल्यम् अतिशयो वा यस्य यस्माद् अन्यत्र तद् अतुल्यातिशयम्. कालापेक्षया न अन्यस्य वीर्यम् अस्ति. कालमर्यादां चेद् उल्लंघति तदा भगवद्वीर्यम् अतुल्यातिशयम् इति ज्ञायते. सोऽपि न एकविधः पराक्रमः, क्षणेन विश्वरूपो भवति, क्षणेन वामनो, दृश्यश्च अदृश्यश्च, बहिरन्तः परिच्छेदो व्यापकश्च; अतो ज्ञायते सर्वेष्वेव देहिषु असंगतैः कदापि असम्बद्धैः भगवानेव अयम् इति. नतु प्रत्यक्षतया भगवान् इति निश्चेतुं शक्यते इति अर्थः. तत्रापि कदाचित् चेद् अलौकिकं भवति कल्प्येतापि कथञ्चिद् जातम् इति, सर्वदा चेद् अवाङ्मनोगोचराः अनुभावाः तदा कथं न ज्ञायेत्? तद् आहतुः तैस्तैः इति. एवम् अवतारेषु भगवज्ज्ञानम् आनुमानिकं न प्रत्यक्षम् इति उक्तम्।।३४।।

अनुवाद : **जिसके अवतार** कहा, वह मत्स्य आदिके **शरीरोंमें** कहीं कोई मत्स्यके शरीरमें ऐसी अलौकिकता दिखे तो वह जीवधर्म कैसे हो सकता है! यह तो स्वयं **अशरीरी** भगवान्‌की सामर्थ्य दिखलायी देती है, इसलिए वह उन **अवतारोंमें** दिखलायी देती है. **'अशरीरी'** कहनेका अभिप्राय यहां केवल शरीराकृतिका ही प्रकाशन होता है ना कि उनके शरीरका, क्योंकि सचमुचमें यदि शरीर हो तो इसका इस प्रकार अकस्मात बढ़ जाना उपपन्न नहीं हो पाता. क्योंकि ऐसा तो अधिक सामर्थ्यके कारण ही सम्भव हो पाता है. इसलिए शरीरकी आकृति अन्ततः तो भासमान भगवान् ही हैं. स्वयं उस रूपमें भासित हो रहे हैं. जिसके बराबर अथवा जिससे बढ़ कर कोई हो ना सके, वह अतुलनीय निरतीशय होता है. इस सृष्टिमें कालसे बढ़ कर अन्य किसीका बल नहीं हो सकता. अब यदि कोई कालकी मर्यादाका उल्लंघन करता लगता हो तो वहां भगवान्‌का ही अतुलनीय और निरतिशय बल माना जाना चाहिये. ऐसे अवतारोंमें प्रकट हुए भगवान्‌का पराक्रम भी एक प्रकारका नहीं बल्कि अनेक प्रकारका होता है. एक ही क्षणमें विश्वरूप बन सकते हैं, एक ही क्षणमें वामन भी बन सकते हैं, दृश्य बनने की तरह अदृश्य भी वह बन सकते हैं, भीतर अथवा बाहर की सीमामें अनुभूत होते भगवान् व्यापक भी हो पाते हैं. इससे समझमें आता है कि सभी शरीरधारी **देहधारियोंमें असंगत लगते** अर्थात् कभी भी सम्बद्ध ना लगनेवाले तो स्वयं भगवान् ही हो सकते हैं. इसलिए प्रत्यक्षरूपमें ये भगवान् हैं ऐसा निर्धारित कर पाना कठिन हो जाता है, ऐसा यहां अभिप्राय है. उसमें यदि कभी-कभाक किसीमें ऐसा अतुल्यातिशय अनुभाव प्रकट होता हो तो उसे अलौकिक भी माना सकता है, परन्तु सर्वदा यदि ऐसा ही मन-वाणीसे अगोचर होनेसे अनुभवमें न आता हो तो क्या समझना? इस प्रश्नका समाधान देते हैं **वह-वह** कह कर ऐसे अवतारोंका भगवान् होनेका ज्ञान आनुमानिक हो सकता है पर प्रत्यक्षरूप नहीं॥३४॥

(भक्तिकी स्थापनके लिए भगवत्प्राकट्य होता है)

अवतरणिका : **प्रकृतेतु शब्दादेव नारदकृपया वा भगवान् एतदर्थम् आगतः इति ज्ञायते इति आहतुः :**

अनुवाद : प्रकृत प्रसंगमें तो शब्दोंके कारण अथवा तो नारदजीकी कृपाके कारण ही भगवान् अपने लिए पधारे यह ज्ञान हुआ ऐसा बता रहे हैं :

श्लोक :

स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।।
अवतीर्णो अंशभागेन साम्प्रतं पतिः आशिषाम् ।।३५।।

अनुवाद : **आप सभी लोगोंके भव और वैभव के लिये. आशिषोंको पूर्ण करनेवाले पति हो और अपने सभी अंशोंके साथ अवतीर्ण हुवे हो ।।३५।।**

सुबोधिनी : **स भवान् इति, यः पूर्वोक्तः [१]सर्वप्रमाणवेद्यो [२]लौकिकैः अवेद्यो [३]अन्तःकरणप्रत्यक्षो [४]अवतारी चतूरूपो भवान्. अतएव सर्वस्यैव लोकस्य भवाय उद्भवाय ऐश्वर्याय च अंशेन भागेन च साम्प्रतम् अवतीर्णः, यतो भवान् आशिषां पतिः. स्वरूपतो भवान् चतूरूपो विवृतः. प्रकारेण ततोऽपि अधिकास्तु अत्र गुणाः. सर्वएव लोकाः उत्पादनीयाः. ततः तेभ्यः स्वसमानैश्वर्यादिकं च देयम्. भगवति अंशतः समागते सर्वे भगवदीयाः शुद्धसत्त्वांशेनैव आविर्भवन्ति भगवत्सेवौपयिकदासरूपांशेन वा. "सर्वे लोकाः स्वदासभावेन आविर्भवन्तु!" इति इच्छया भगवान् एकदेशभावं प्रकाशितवान्, समुदाये ग्रहणभजनाद्यनुपपत्तेः, नहि प्रलयाग्निः सेवितुं शक्यते. किञ्च भागाः कलाः, कलया अवतीर्णः. सर्वेषां सर्वकलाकौशलाय सर्वाः कलाः तदैव प्रादुर्भवन्ति यदि मूलभूतः कलारूपेण आविर्भवति, तदैव च सर्वाः कलाः पूर्णाः भवन्ति. इदं स्वोपयोगाय उक्तं, स्वस्यापि**

वैष्णवरूपेण उद्भवो भक्तिकलाः च पूर्णाः भविष्यन्तीति. एताएव आशिषः अग्रे प्रार्थ्यमानत्वात्. मानुषभावेन नानाविधाः क्रीडा भक्तान् उत्पाद्य तेषु भक्तिस्थापनार्थाः इति अर्थः ।।३५।।

अनुवाद : **आप** अर्थात् जैसा आगे वर्णित किया गया उसके अनुसार सभी [१]प्रमाणोंसे सिद्ध होते हुए भी [२]लौकिक प्रमाण अथवा ज्ञानके साधनों से अवेद्य [३]अन्तःकरणैकगोचर होनेवाले और [४]अवतारी, ऐसे चार रूपोंवाले **आप** इसीसे **सभी** लोकोंके भव उद्भव और ऐश्वर्य. **अंश और भागों** के साथ आप अभी **अवतीर्ण हुए हो** आप **आशिष पूर्ण करनेवाले पति हो.** भगवान्का स्वरूप इस प्रकार चार तरहसे वर्णित हुआ. गुण तो इससे भी अधिक कई हैं. सभी भगवदीय उत्पन्न होने चाहिये. उसके बाद सभीको अपने ऐश्वर्यों जैसे ऐश्वर्य आदि देने चाहिये. भगवान् जब अंशतः पधारते हैं तब सभी भगवदीय शुद्ध सत्त्वांशसे ही आविर्भूत होते हैं. अथवा भगवत्सेवामें उपयोगी ऐसे दास रूपी अंशोंके साथ भगवान् प्रकट होते हैं. "सभी लोग भगवान्के प्रति दासभावके साथ आविर्भूत होते हैं!" ऐसी इच्छा रख कर भगवान् स्वयंको एक देशमें प्रकट करते हैं, क्योंकि अपनी सामुदायिक समग्रताको प्रकट करें तो भगवान्का ज्ञान अथवा भजन दोनोंमेंसे एक भी शक्य नहीं रह जायेगा. कौन प्रलयाग्निका सेवन कर सकता है! इसलिए **अंश** अर्थात् भगवान् अपनी कलाओंके साथ **अवतीर्ण हुए हों,** तब सबमें सर्व कलाओंकी कुशलता प्रकटे इसलिए भगवान्की सभी कला तब प्रकट हो जाती हैं. मूलभूत स्वरूप जब अपनी कलाके साथ प्रकट होता है, तभी पूर्णकला प्रकट होती हैं. यह नलकूबर-मणिग्रीव अपने उपयोगके हेतुसे कह रहे हैं. क्योंकि अपना भी वैष्णवरूपमें उद्भव हो तो भक्तिकी कला परिपूर्ण हो पायेगी. क्योंकि ऐसी ही **आशिष** आगे मांगनेमें आयेगी. भगवान्का मनुष्य स्वरूपमें प्रकट हो कर नाना प्रकारकी क्रीड़ाओंमें भक्तोंको भी प्रकट करना तो उनमें भक्तिकी स्थापनाके लिए होता है, ऐसा

अभिप्राय है॥३५॥

(प्रार्थना)

अवतरणिका : **किञ्चित् प्रार्थयितुं नमस्कारं कुरुतो, आदिमध्यावसानेषु नमनं मनआदिभिः :**

अनुवाद : अब प्रार्थनाके लिए नमस्कार करते हैं, प्रारंभमें मध्यमें और अन्तमें मन वाणी और काया से नमन करना चाहिये.

श्लोक :

नमः परमकल्याण! नमस्ते विश्वमंगल!॥
वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः॥३६।

अनुवाद : **हे परमकल्याण! नमस्कार. हे विश्वमंगल! आपको नमस्कार! यदुवंशके पति ऐसे शांत वासुदेव आपको नमस्कार॥३६॥**

सुबोधिनी : **नमः इति, आदौ कायिकं नमनं, तत्र फलं परमकल्याण! इति. कल्याणानां निधानरूपो भगवान्. कल्याणानि शुभफलानि पुत्रजन्मादीनि लोके प्रसिद्धानि. परमानन्दः परमकल्याणः. कायेन नमस्कृतः शरीरोपभोगाय परमकल्याणः प्रादुर्भवति. नमस्ते इति वाचनिकं, ते तुभ्यम् इति कीर्तनात्. तस्य फलं विश्वमंगल! इति, वेदादिनिर्माणाद् विश्वस्मै तत्साध्यफलरूपो मंगलं भवति. अन्ते नमनं मानसं, तदर्थं मनसि आविर्भावाय वासुदेवाय इति. शान्ताय इति ज्ञानरूपाय; केवलम् आविर्भूते नारदवद् अज्ञाते तथा पुरुषार्थो न भवतीति शान्तं लयविक्षेपशून्यं रूपम् आविर्भावो ज्ञानं च उक्तम्. फलम् आह यदूनां पतये इति, भगवान् स्वामी फलं, यथा यदूनाम्॥३६॥**

अनुवाद : इसलिए **नमस्**कार कर रहे हैं, प्रारंभमें कायासे नमन, उसका

फल भगवान्‌को **परमकल्याण**! संबोधनद्वारा सूचित किया. भगवान् कल्याणोंके निधान होते हैं. लोकमें कल्याणके रूपमें शुभफल देनेवाले पुत्रजन्म आदि माननेमें आते हैं. हकीकतमें तो परमानन्द ही **परमकल्याण** होता है. कायासे नमन करनेसे यह काया भगवान्‌के उपभोगके लिए योग्य बन जाती है. तब ही सच्चा **परमकल्याण** प्रादुर्भूत होते हैं. **उनको नमस्कार** यह वाणीसे करनेमें आया है. **आपको** अर्थात् आपके लिए अपनी वाणीका ऐसा कीर्तनरूप उपयोग. उसका फल **विश्वमंगल**! संबोधनसे सूचित हुआ. क्योंकि वेद आदि शास्त्र प्रकट करके भगवान् विश्वके लिए वेदादि शास्त्रोक्त साधनोंका मंगल फल प्रदान करनेवाले होते हैं. अन्तमें मानसिक नमनके लिए भगवान् अपने मनमें आविर्भूत हों इसलिए भगवान्‌को **'वासुदेव'**के रूपमें संबोधन किया. **शान्त** अर्थात् ज्ञानरूप; यदि भगवान् स्वयं ही आविर्भूत हुए हों उनको पहचाना न जा सकें तो, नारदजीकी तरह. तो कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा. इसलिए **शान्त** अर्थात् फिरसे लीन ना होनेवाला अथवा तो विक्षेप बिना प्रकट होनेवाला भगवान्‌का आविर्भाव और ज्ञान कहा गया. अब फलरूपता दिखाते हैं **यदुवंशके पति**इस रूपमें रूपमें संबोधित करके, यदुओंके जिस प्रकार भगवान् स्वामी बन कर फलित हुए, वह प्रकार अभिप्रेत है॥३६॥

(बिदा मांगनेकी प्रार्थना)

अवतरणिका : **एवं नमस्कृत्य गमनार्थं प्रार्थयेते :**

अनुवाद : इस तरह नमस्कार करनेके बाद वहांसे विदाईकी प्रार्थना भगवान्‌से करते हैं :

श्लोक :

अनुजानीहि नौ भूमन्! तव अनुचरकिंकरौ॥
दर्शनं नौ भगवतः ऋषेर् आसीद् अनुग्रहात्॥३७॥

अनुवाद : हे भूमन्! आप हमें अनुज्ञा प्रदान करें. क्योंकि हम तो आपके अनुचरके किंकर हैं. वस्तुतः तो हमारे ऊपर देवर्षि नारदजीके अनुग्रहके कारण हमें आपके दर्शनका लाभ मिला॥३७॥

सुबोधिनी : अनुजानीहि इति, नौ आवाम् अनुजानीहि अनुज्ञां प्रयच्छ. भूमन्! इति सम्बोधनं स्वस्य तत्र स्थातुम् अयोग्यतार्थम्. तदेव आहतुः तव अनुचरकिंकरौ इति, तव अनुचरस्य नारदस्य किंकरौ दासौ. सेवकसेवकत्वमेव उचितं नतु त्वत्सेवकत्वम् आवयोः, यतः त्वं भूमा महान्, नहि अल्पेन महतः सेवा कर्तुं शक्यते. ननु दर्शनयोग्यता यदा तदा सेवायोग्यता सिद्धैव, ततः कथम् अयोग्यौ इति चेत् तत्र आहतुः दर्शनं नौ भगवतः ऋषेः आसीद् अनुग्रहाद् इति. महाराजसेवकः स्वभृत्यं कदाचिद् महाराजस्थानं नयति न एतावता तस्य महाराजसेवायोग्यता भवति. अतः दर्शनान्यथानुपपत्त्या न सेवायोग्यता, भगवतो दर्शनम् ऋषेः अनुग्रहाद् इति ऋषेः भगवतः इति गुरुदेवतयोः ऐक्यार्थं सहनिर्देशः॥३७॥

अनुवाद : यहां **अनुज्ञा दो** कहा. हम दोनोंको **अनुज्ञा** प्रदान करो. हे **भूमन!** ऐसा सम्बोधन अपने लिए वहां खड़े रहना योग्य न होनेके कारण किया. जो बात आपके **अनुचरके किंकर** कह कर करना चाह रहे हैं वह यह है कि **आपके अनुचर** नारदजीके **किंकर** हम दोनों दास हैं. आपके सेवकका सेवक होना उचित है. आपका सेवक होनेकी लायकात हममें कहांसे हो सकती है? क्योंकि आप तो **'भूमन्'** अर्थात् अति महान हो. हमारे जैसा तुच्छ जीव आपके जैसे महान्की सेवा कैसे कर सकता है? कोई यदि ऐसी शंका करे कि जब भगवान्के दर्शनकी योग्यता हो तो उनकी सेवा करनेकी योग्यता भी सिद्ध हो जानी चाहिये, और यदि सिद्ध हो गयी हो तो अयोग्य कैसे हो सकते हैं? उसके समाधानमें कहते हैं कि **आपका दर्शन तो हमें आपके सेवक ऋषि नारदजीके अनुग्रहसे** हुआ है. किसी राजाका सेवक, कभी अपने भृत्यको राजाके महलमें

ले जाये तो एतावता वह राजाका नौकर बननेके लिये लायक नहीं हो जाता. इसलिए भगवत्सेवाके लिए हम योग्य ना हो तो भगवान्का दर्शन भी नहीं होना चाहिये था, ऐसी अनुपपत्ति योग्य नहीं है. **भगवान्का दर्शन ऋषिके अनुग्रहके कारण** ऐसा कहा तो दूसरी प्रकारसे अन्वय करनेसे **ऋषि भगवान्** के अनुग्रहके कारण भी ऐसा कर सकते हैं, इसमें गुरु और देवता दोनोंके बीच एकताको अनुलक्षित करके सहनिर्देशकी तरह भी लिया जा सकता है॥३७॥

(जहां भी हम जायें वहां हमारी आपके प्रति भक्ति निभती रहे ऐसी प्रार्थना)

अवतरणिका : **एवं गमनं प्रार्थयित्वा तत्र गतयोः भक्तिं प्रार्थयेते :**

अनुवाद : ऐसे विदाईकी प्रार्थना करके, जहां कहीं भी जायें वहां आपके लिए हमारे भीतर भक्ति बनी रहे ऐसी प्रार्थना करते हैं :

श्लोक :

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां॥
हस्तौ च कर्मसु मनस् तव पादयोर् नः॥
स्मृत्यां शिरस् तव निवासजगत् प्रणामे॥
दृष्टिः सतां दर्शने अस्तु भवत्तनूनाम्॥३८॥

अनुवाद : **आपके गुणगानमें हमारी वाणी निरत रहे. दोनों कर्ण कथामें, दोनों कर भगवत्कर्मोमें, भगवान्के स्मरणमें मन मगन रहे.जगन्निवास भगवान्के ही चरणोंके नमनमें मस्तक अभिरत यूंही झुका रहे, भगवान्के विग्रहरूप सत्पुरुषोंके दर्शनमें दृष्टि लगी रहे.**

सुबोधिनी : **वाणी इति, षडंगानि पुरुषे प्रधानानि :**

वाक् श्रोत्रे च करौ चित्तं शिरः चक्षुस् तथैव च।
षड् एते भगवत्कार्ये यदि सक्ताः कृतार्थता॥
कीर्तने श्रवणे चैव गुणानां रूपदास्यके।
स्वरूपस्मरणे नत्याम् अवतीर्णस्य दर्शने॥

गुणानाम् उत्कर्षाधायकधर्माणां कीर्तने वाणी अस्तु तत्रैव सा विनियुक्ता भवतु. यथा वराय दत्ता कन्या न अन्यगामिनी भवति, नापि अन्यः प्रार्थयते, नापि पतिभयात् सा अन्यसम्बन्धिनी कथञ्चिदपि भवति, तथा वाणी भवतु. एवमेव श्रवणौ कथायां, हस्तौ उभावपि भगवतः सर्वकर्मसु अष्टयामिकेषु. चकारात् पादावपि मन्दिरगमनादिषु. तद्व्यतिरेकेण हस्तसेवा न उपपद्यते इति उभयम् एकरूपम्. तव पादयोः स्मृत्यां नो मनो अस्तु. स्मरणे सर्वानेव भक्तान् एकीकृत्य आहतुः पादयोः इति द्विवचनं रूपान्तरे तथाभावाय. शिरस्तु प्रणामे. चतुरंगया भक्त्या भगवतः सर्वस्थितिः सर्वान्तरत्वं च स्फुरिष्यति. अतः सम्बोधनं यतो हे निवासजगद्! इति, निवासभूतं जगद् यस्य इति. दृष्टिस्तु सतां दर्शने अस्तु. भगवद्दर्शनन्तु धाष्ट्यार्द् न प्रार्थितम्. ननु तेषां दर्शने किं स्यात्? तत्र आहतुः भगवत्-तनूनाम् इति, भगवतः तनूरूपाः ते. तत्र भवान् वर्ततइति तथा, अयोगोलके वह्निः यथा वा गंगायां जलम्॥३८॥

अनुवाद : **वाणी** आदि. छह अंग पुरुषोंमें प्रधान होते हैं : वाणी कान हाथ चित्त शिर और नयन. ये छह-के-छह यदि भगवान्के कार्यमें जुड़ जायें तो जीव कृतार्थ हो जाता है. इसलिए भगवान्के गुणोंका कीर्तन और श्रवण, भगवान्के रूपका दास्य. स्वरूपका स्मरण करते समय चित्त और शीश का जुड़ जाना. अवतीर्ण भगवान्के दर्शन रूपी कार्यमें दृष्टि परायण बन जानी चाहिये. **गुणगान**का अर्थ भगवान्का उत्कर्ष सिद्ध करनेवाले गुणधर्मोंके कीर्तन गानेवाली **वाणी** बन जाये. अर्थात् वहां उसका विनियोग होना चाहिये. जैसे कोई कन्या किसी वरके साथ विवाहिता हो जाती है तब वह किसी

पुरुषके साथ जुड़ नहीं पाती. दूसरा कोई और उस कन्याको मांगे तो अयुक्त होता है, वैसे ही कन्या भी अपने पतिके भयके कारण दूसरेके साथ यदि संबंध नहीं रखती. वैसी पतिव्रता कन्याकी तरह ही हमारी वाणी बन जानी चाहिये. इसी प्रकार हमारे दोनों **कर्ण कथामें, दोनों हस्त** भगवान्‌के सर्वविध **कर्मोंमें आठों याम लगे रहने चाहिये. 'भी'** पदके प्रयोगके कारण चरण भी प्रभुके विराजनेके स्थान तक चल कर जानेवाले बन जायें. क्योंकि उनके बिना हाथोंसे सेवा नहीं बन सकेगी. इसलिए दोनों एकरूप होनेके कारण एकका विनियोग चाहनेसे दोनोंका विनियोग आ गया. **आपके चरणोंकी स्मृतिमें हमारा मन** चोंट जाये. स्मरणमें सभी भक्तोंको इकट्ठा करके कह रहे हैं. **चरणों** ऐसे द्विवचनका प्रयोग द्विपदके अलावा कोई और रूप मिले तो ऐसा सभी शक्य ना रह पाता इसलिए. **शीश** तो **भगवान्‌को प्रणाम करनेके लिए.** ऐसे चार अंगोंवाली भक्तिकी बात करनेसे भगवान्‌की सर्वरूपता और सर्वान्तरता स्फुरित हो सकती है. इसलिए सम्बोधन कर रहे हैं हे **जगन्निवास!** अर्थात् इस जगत्‌में जिसका निवास हो ऐसे वह. **दृष्टि** तो **सत्पुरुषोंके दर्शनमें** तत्पर बनी रहनी चाहिये. ये दोनों स्वयं भगवान्‌के निरंतर दर्शन मांगनेकी धृष्टता नहीं कर पाये. यहां शंका होती है कि भगवान्‌को छोड़ कर भक्तोंके दर्शनसे क्या लाभ? उसके समाधानमें कहते हैं **भक्त भगवान्‌के तनरूप होते हैं** जो श्रीअंगरूप हो वहां भगवान् अवस्थित रहते हैं इसलिए. अग्निमें तपे हुए लोहेके गोलेमें जैसे अग्नि आविष्ट होती जाती है. अथवा जैसे गंगा नदीके जलमें गंगादेवी बिराजती है, उस प्रकार॥३८॥

।। अणुभाष्यान्तर्गत ।।

।। संक्षिप्त-अध्यायचतुष्टयी ।।

॥ श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणुभाष्यके अन्तर्गत ॥

॥ प्रथमाध्यायका अधिकरण ॥

(प्रमाणस्वरूपकी विवेचना)

[१]जन्माद्यधिकरणम्

(तत्र जन्माद्यस्याधिकरणविषयः)

किञ्च, तत्र [१] किंलक्षणम्? [२] किम्प्रमाणकम्? इति जिज्ञासायाम् आह सूत्रकारः :

[(क)] जन्माद्यस्य यतः [(ख)] शास्त्रयोनित्वात् ॥१।१।२॥

(जन्माद्यस्य अधिकरणगत विषय)

अनुवाद : ब्रह्मकी परिभाषा और उसके प्रमाण की जिज्ञासा होती हो तो उसके समाधानरूपमें अब सूत्रकार दूसरा सूत्र कहते हैं :

(जन्माद्यस्याधिकरणसंशयः)

* ननु कथम् अत्र सन्देहो यावता, "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" (तैत्ति.उप.२।१) इति आह श्रुतिरेव; विरुद्धञ्च एतत् स्वरूपलक्षणाकथने कार्यलक्षणस्य वक्तुम् अशक्यत्वात्, विवादाध्यासितत्वात् च. नहि ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं सर्वसंमतम्. नच आगमोदितमिति वेदमात्रस्य ब्रह्मप्रमाणकत्वं वक्तुं शक्यते. किञ्च व्यर्थश्च अयं विचारो, लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुज्ञानं भवति; तच्च स्वरूपलक्षणेनैव भवतीति किम् अनेन? तस्माद् अयुक्तम् उत्पश्यामः* इति, उच्यते.

(जन्माद्यस्य अधिकरणगत संशय)

अनुवाद : यहां यह शंका होती है कि ब्रह्मके बारेमें संदेह कैसे हो सकता है? क्योंकि "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" (तैत्ति.उप.२।१)

ऐसा उल्लेख तो श्रुतिमें मिलता ही है. तदुपरांत एक विरोधाभास भी यहां दिखलायी देता है. वह यह कि ब्रह्मके स्वरूपको पारिभाषित किये बिना ब्रह्ममेंसे प्रकट हुए कार्योंका निरूपण कैसे किया जा सकता है? तदुपरांत यह विषय तो अभी भी विवादास्पद है. ब्रह्म इस जगत्का कर्ता है, यह धारणा सभीको मान्य कहां है? वैदिक आगमोंमें ब्रह्मका निरूपण मिलनेसे संपूर्ण वेदको ब्रह्मके बारेमें प्रमाण नहीं माना जा सकता. इसके अलावा ऐसा विचार ही व्यर्थ लगता है, क्योंकि लक्षण और प्रमाण से कोई भी ज्ञान संभव है, यह ज्ञान तो स्वरूपलक्षणके आधार पर ही हो सकता है, इसलिए इस प्रकारकी बातोंका प्रयोजन क्या है? इसलिए इस सूत्रमें प्रतिपादनीय विषय योग्य नहीं लगता, इस शंकाके समाधानके रूपमें यह बताया कि

सन्देहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम्।
क्रियाशक्ति-ज्ञानशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते॥

अनुवाद : वेदोंको प्रमाण माननेवालोंके लिए यह शास्त्र वेदके प्रतिपादनमें पैदा होनेवाले संदेहोंका वारण करनेके लिए प्रकट हुवा है.

उस परमतत्त्वमें क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति है अथवा नहीं! ऐसा संदेह तो हो ही सकता है.

नहि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः, किन्तु सन्देहं वारयितुं, तत्र "सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्" (तैत्ति.उप.२।१) "नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभावम्" (द्रष्ट. : नृसिं.उ.ताप.९) इति श्रुत्या कर्तृत्वादि-प्रापञ्चिक-धर्मराहित्यं प्रतीयते. "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति" (तैत्ति.उप.३।१) इति कर्तृत्वञ्च, तत्र सन्देहः किं ब्रह्म कर्तृ आहोस्विद् अकर्तृ? किं तावत् प्राप्तम्? अकर्तृ. कथम्?

अनुवाद : सूत्रकार श्रुतियोंकी व्याख्या प्रकट करनेके लिए ब्रह्मसूत्रके निर्माणमें प्रवृत्त नहीं हुए अपितु उनके अभिप्रायमें पैदा होनेवाले संदेहोंको दूर करनेको हुए हैं. यहां **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तम्''** (तैत्ति.उप.२।१) **''नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभावम्''** (द्रष्ट. : नृ.उ.ता.उप.९) इत्यादि श्रुतियोंमें कर्तृत्व और ऐसे दूसरे भी धर्मोंसे रहित ब्रह्म प्रतिपादित हुवा है ऐसा लगता है. जबकि **''जिससे ये सारी भूतसृष्टि पैदा होती है, जिसके द्वारा जीवित रहती है, जिसकी ओर जानेपर उसमें लीन होती है, वह ब्रह्म है''** (तैत्ति.उप.३।१) इत्यादि श्रुतियोंके आधार पर ब्रह्ममें कर्तृत्व आदि धर्म होने चाहिये, ऐसा भी लगता है. इससे संदेह होना स्वाभाविक है कि वह ब्रह्म सृष्टिका कर्ता है अथवा अकर्ता?

(जन्माद्यस्याधिकरणपूर्वपक्षः)

''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्'' (तैत्ति.उप.२।१) इति प्रधानवाक्यं, फलसम्बन्धात्. ऋचापि विवृतं, **''सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता''** (तैत्ति.उप.२।१) इति, फलार्थं च ब्रह्मज्ञानम्, फलञ्च फलवाक्योक्तधर्मज्ञानादेव न अन्यथा. कर्तृत्वञ्च परविवरणतया उक्तं, परं किम्? इति उक्ते, यः सर्वान्तर आनन्दः इति. कथं सर्वान्तरम्? इति आकांक्षायां परिचयार्थ भूतभौतिकसृष्टिम् उक्त्वा गौणानन्तर्य परिहृतं, गौणोपासनाफलञ्च प्रधानशेषतया उक्तम्. तत्र अन्यगतकर्तृत्वा-रोपानुवादोऽपि सम्भवति. ततश्च ''भृगु वै वारुणिः'' (तैत्ति.उप.३।१) इति, उपाख्यानेऽपि परिचायकत्वात् गौणकर्तृकत्वमेव अनूद्यते, फलाश्रवणाद् इति पूर्वपक्षः.

(जन्माद्यस्य अधिकरणगत पूर्वपक्ष)

अनुवाद : यहां पूर्वपक्ष इस प्रकार होता है कि *उसको अकर्ता मानना चाहिये क्योंकि **''ब्रह्मविद्को परम (फल) मिलता है''** (तैत्ति.उप.२।१) ऐसा श्रुतिका प्रधान वचन है, क्योंकि इस वचनमें

फलका निरूपण अभिप्रेत है. इस वचनसे आगे आती हुयी **"जो अपने हृदयके परमाकाश-गुहामें सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप ब्रह्म है उसे जाननेवालेके हृदयकी सारी कामनाओंकी पूर्ति उस विचक्षण ब्रह्मके द्वारा हो जाती है"** (तैत्ति.उप.२।१) ऋचामें ही इसका विवरण भी दिया गया है. इस ब्रह्मका ज्ञान किसी-न-किसी फलके लिए तो होना चाहिये. वह फल यदि फलवाक्यमें वर्णित धर्मोंकी जानकारीके रूपमें न हो तो दूसरे प्रकारसे कैसे हो सकता है? उस परमतत्त्वकी व्याख्याके रूपमें ही कर्तृत्वका प्रतिपादन किया गया होनेसे उस तत्त्वका पर होना ही आनन्दको सर्वान्तर दिखला कर किया गया है. आनन्दके सर्वान्तर होनेकी हकीकतको समझानेके लिए भूत-भौतिक सृष्टिका निरूपण किया गया. यहां एक संभावना यह भी किसीको लग सकती है कि हकीकतमें जब उस ब्रह्मके बाहर कुछ हो ही नहीं तो उसका सर्वान्तर होना केवल कहने मात्रके लिए होना चाहिये. अतः जो बीचमें उस ब्रह्ममेंसे प्रकट हुए उसके गौण स्वरूपकी उपासना करनेसे मिलनेवाले गौण फलोंका भी निरूपण प्रधान फलके अंग रूपमें कहनेमें आया. इसमें एक संभावना ऐसी भी हो सकती है कि हकीकतमें सृष्टिका कर्ता ब्रह्मको मानकर दूसरे किसी तत्त्वको भी माना जा सकता है और उसका कर्तापन अंतमें ब्रह्मके साथ जोड़ा जा रहा हो. इसीलिए **"भृगुः वै वारुणिः"** (तैत्ति.उप.३।१) इस उपाख्यानमें भी वह ब्रह्मके अलावा अन्य तत्त्वके मुख्य कर्तापनेके साथ सृष्टिके गौण कर्ताके रूपमें ब्रह्मका परिचय देनेके लिए फिरसे समझाया गया है, क्योंकि इस प्रतिपादनमें किसी भी प्रकारकी फलश्रुति कहनेमें नहीं आयी है* ऐसा पूर्वपक्ष होता है.

(जन्माद्यस्याधिकरण-सिद्धान्तः)

सिद्धान्तस्तु :

[१]उत्पत्तिस्थितिनाशानां जगतः कर्तृ वै बृहद्।
[२]वेदेन बोधितं तद्धि न अन्यथा भवितुं क्षमम्॥

नहि श्रुतिविरोधो अस्ति कल्पोऽपि न विरुध्यते।
सर्वभावसमर्थत्वाद् अचिन्त्यैश्वर्यवद् बृहत्॥

(जन्माद्यस्य अधिकरणगत सिद्धान्त)

अनुवाद : इस बारेमें सिद्धान्त इस प्रकार है :

[१]जगत्की उत्पत्ति स्थिति और नाश का कर्ता बृहद्=ब्रह्म ही है.

[२]यह बात वेदमें ही कही होनेसे वैदिक मत अन्य प्रकारसे नहीं माना जा सकता.

इस बारेमें वेदकी विभिन्न श्रुतियोंमें मिलते निरूपणमें न तो कोई विरोधाभास है और न ही कर्ता माननेके पक्षमें कोई विरोधाभास है.

क्योंकि अचिन्त्य ऐश्वर्यशाली वह ब्रह्म स्वयं सर्वभावसे प्रकट होनेमें समर्थ होनेके कारण भी.

वेदेनैव तावद् जगतकर्तृत्वं बोध्यते; वेदश्च परम आप्तो अक्षरमात्रमपि अन्यथा न वदति, अन्यथा सर्वत्रैव अविश्वासप्रसंगात्, नच कर्तृत्वे विरोधो अस्ति, सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्तेः. सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामान्याधिकरण्यविरोधः. 'सत्य'-'ज्ञाना'दिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः. नच * कर्तृत्वं संसारिधर्मो, देहाद्यध्यासकृतत्वाद् * इति वाच्यं, प्रापञ्चिके कर्तृत्वे तथैव, नतु अलौकिककर्तृत्वे, अतएव 'अस्य' इति आह. 'अस्य'इति पुरोवर्ती प्रपञ्चः इदमा निर्दिश्यते. अनेक-भूतभौतिक-देव-तिर्यङ्-मनुष्या-ऽनेकलोका-ऽद्भुतरचनायुक्त-ब्रह्माण्ड-कोटिरूपस्य मनसापि आकलयितुम् अशक्यरचनस्य अनायासेन उत्पत्ति-स्थिति-भंगकरणं न लौकिकम्. प्रतीतञ्च निषेध्यं न अप्रतीतं न श्रुतिप्रतीतम्, सत्यत्वादयश्च लौकिकाः, ततः सर्वनिषेधे तदज्ञानमेव भवेत्.

अनुवाद : वेद स्वयं ही उस ब्रह्मका जगत्के कर्ताके रूपमें निरूपण

करता है. अब ब्रह्मके बारेमें तो वेद परम आप्त = विश्वसनीय होनेसे अक्षरमात्र भी अन्यथा प्रतिपादन करता हो, ऐसा नहीं माना जा सकता, अन्यथा वेदकी दूसरी बातोंमें भी विश्वसनीयता भंग हो जायेगी. ब्रह्मको कर्ताके रूपमें स्वीकारनेमें किसी प्रकारका विरोध भी नहीं लगता, क्योंकि जिस प्रकार ब्रह्म सत्य अथवा ज्ञान अथवा अनन्त होनेके गुणधर्मोंवाला हो सकता है उसी प्रकार कर्ता होनेका गुणधर्म भी उसमें क्यों नहीं हो सकता! सर्वथा निर्धर्मक मान लेनेपर तो एक धर्मीरूप ब्रह्मको उद्देश्य बना कर उसके बारेमें करनेमें आते 'सत्य' अथवा 'ज्ञान' आदि धर्मोंके बोधक पदोंका प्रयोग सार्थक नहीं रह जायेगा. यह *कर्ता होना यदि देहाध्यासप्रयुक्त सांसारिक धर्म हो तो यह भी नहीं माना जा सकता*, क्योंकि जगत्में जो कर्ता होता है उसे देहाध्यास होना आवश्यक है. ब्रह्म लेकिन अलौकिक कर्ता होनेसे उसे देहाध्यास होना आवश्यक नहीं लगता है. इसी कारण श्रुतिमें 'इसका' ऐसा पद प्रयोग किया गया है. 'इसका' माने सामने दीखनेवाले जगत्का 'यह' कहकर निर्देश किया गया है. भूत-भौतिक देव-पशुपक्षी-मनुष्य ऐसे अनेक रूपोंकी अद्भुतता धारण करनेवाले करोड़ों ब्रह्माण्ड कि जिनकी रचना अन्य किसीके लिए शक्य न हो, जिसे जो कोई भी आयासके बिना प्रकट कर सकता हो तो उसकी उत्पत्ति स्थिति अथवा लय करनेकी सामर्थ्य लौकिक कर्तामें हो ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती. जगत्में जो भी प्रतीत होता हो उसका निषेध वेद कर सकता है पर जो प्रतीत ही न होता हो अथवा स्वयं श्रुतियोंके विधानके कारण प्रतीत होता हो उसका निषेध स्वयं वेद किस प्रकार कर सकता है! ब्रह्मका सत्य आदि होना कोई लौकिक धर्म माना नहीं जा सकता. ऐसा माननेसे तो ब्रह्मके बारेमें किये गये प्रत्येक विधानको अर्थहीन मानना पड़ेगा. उसके बाद तो ब्रह्मको जाननेका कोई उपाय भी नहीं बचेगा.

नच *सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव व्यवहारमात्रत्वात्,

कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासते* इति वाच्यं, तर्हि कर्तृत्वं तथा कुतो न अंगीक्रियते. स्मृतिश्च स्वीकृता भवति ''कर्ता कारयिता हरिः'' इति. नच आरोपन्यायेन वक्तुं शक्यं, तथा सति अन्यस्य स्यात्. तत्र न प्रकृतेः, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात्. न जीवानाम् अस्वातन्त्र्यात्. नच अन्येषाम् उभयनिषेधादेव. तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम्. एवं भोक्तृत्वमपि. नवा काचित् श्रुतिः कर्तृत्वं निषेधयति. विरोधभानात् कल्प्यातु लौकिकपरा. फलवाक्येऽपि अश्रुतानां गुणोपसंहारः कर्तव्यः.

अनुवाद : कोई यदि ऐसे कहता हो कि *सत्यत्व आदि धर्म हकीकतमें तो लोकमें कहीं भी होते नहीं हैं क्योंकि वह तो मिथ्या आभासमूलक केवल एक वाणीविलासमात्र ही होता है. इसलिए हकीकतमें तो सत्यत्व आदि धर्म जहां भासित होते हैं वह तो जगत्के अधिष्ठानकारणरूप ब्रह्ममें रहा हुआ सत्यत्व ही जगत्के धर्मरूपसे मिथ्या भासित होता है*. तो यह बात युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा ही हम माननेको तैयार हों तो कर्ता होनेके बारेमें भी यह बात लागू हो जायेगी. फिर वह लागू करनेसे स्मृतिवचनोंकी संगति भी मिल जायेगी, जहां कहा गया है कि **''हरि स्वयं कर्ता भी है और कारयिता भी''**. यदि कोई ऐसा तर्क करे कि ऐसे वचनोंसे अंततः किसी दूसरेका कर्तृत्व ब्रह्मपर आरोपित हो रहा है. अतः निषेधार्थ आरोप किया जा रहा है. तो यह खुलासा भी देना पड़ेगाकि इन वचनोंमें किसके गुणधर्मोंका आरोप ब्रह्मके ऊपर लगाया जा रहा है? उनमेंसे प्रकृतिके गुणधर्मोंका आरोप तो माना नहीं जा सकता. क्योंकि स्वयं श्रुतिमें ही आगे जाकर प्रकृतिके जगत्कारण होनेकी धारणाका निषेध किया गया है. जीवोंके भी कर्ता होनेके गुणधर्मोंका आरोप ब्रह्मके ऊपर नहीं लगाया जा सकता. क्योंकि जीवोंका कर्तापन स्वतंत्र माननेमें नहीं आया है. इस प्रकार जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनोंकी संभावना निरस्त होनेपर तीसरा तत्त्व तो स्वयं ब्रह्म ही बचता है.

इसलिए जगत्का कर्तापना तो ब्रह्मगत ही स्वीकारना पड़ेगा. इसी तरह कर्तापनेकी तरह भोक्तापनेको भी मान लेना चाहिये. किसी भी श्रुतिवचनमें ब्रह्म सृष्टिका कर्ता नहीं है ऐसा निषेध न मिलनेके कारण भी यही बात युक्तियुक्त लगती है. दूसरे जो कोई भी विरोधाभास लगते हैं और उनके कारण ब्रह्मका कर्तापना नहीं माना जाये तो वह तो लौकिक कर्तापनेके अस्वीकार द्वारा सुसंगत हो सकता है. ब्रह्मज्ञानसे मिलते फलके प्रतिपादक वचनमें ब्रह्मका कर्तापना निरूपित न होनेवाली आपत्तिका निराकरण तो 'गुणोपसंहार'न्यायके (द्रष्ट.ब्र.सू. ३।३।१) अनुसार भी विचारा जा सकता है.

(सिद्धान्ताभिप्रेतजन्माद्यस्याधिकरणसूत्रार्थः)

तथाच अयं सूत्रार्थः :

(क) जन्म आदिः येषां इति अवयवसमासाद् अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः. अथवा जन्मप्रभृति सर्वे भावविकाराः 'आदि' शब्देन गृह्यन्ते. तथाच जन्म च आदिः च इति एकवद्भावः. 'आदि'शब्दश्च धर्मवाची. सच स्वसम्बन्धिनं लक्षयति, तस्य उभयसापेक्षत्वाद्, उत्पत्तेः विद्यमानत्वाद् अन्यानेव भावविकारान् उपलक्षयति इति 'आदि'शब्देन अन्ये भावविकाराः. अथवा जन्मनो न आदित्वं, तदाधारस्य पूर्वम् अविद्यमानत्वात्. अन्येतु आदिमन्तः, तदाधारस्य पूर्वं विद्यमानत्वात्. अतः 'आदि'शब्दः स्वाधारसद्धर्मवाचि तद्धर्माणाम् उपलक्षकः. अथवा गमनप्रवेशयोः भेदाद् ''जन्म आदि येषाम्'' इति जात्यापेक्षया एकवचनम्. जन्मतु श्रुतत्वात् सिद्धम्.

(जन्माद्यस्य अधिकरणसूत्रका सिद्धान्ताभिप्रेत अर्थ)

अनुवाद : इसलिए इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है : (क) जन्म जिसके आदिमें हो ऐसे स्थिति-लय आदिके वाचक पदावयवोंका समास होनेसे बहुव्रीही समासका यहां अतद्गुणसंविज्ञान प्रकार है. अथवा **जन्म आदि** सभी छह भावविकारोंको **'आदि'**शब्दसे

लें तो उनका एकवद्भाव हो जायेगा. इसलिए **'आदि'** शब्द जन्मके प्राथम्यरूप धर्मका वाचक होनेसे स्वयंके सम्बन्धी जन्मरूप प्रथम धर्मीका लक्षणा वृत्तिसे बोधक बन जाता है. उस जन्मकी प्रथमता स्थिति-वृद्धि उपचय-अपचय और नाश की अपेक्षासे होनेके कारण; और 'उत्पत्ति'वाचक पद तो विद्यमान है इसलिए, बाकीके स्थिति आदि भावविकारोंका उपलक्षण बन जाता है. अथवा जन्मको आदि नहीं माना जा सकता, जन्मसे पूर्व जन्मलेनेवाला विद्यमान न होनेके कारण. शेष सभीको आदिमान माना जा सकता है, उनका आधार विद्यमान होनेके कारण. इसलिए **'आदि'** शब्द स्वयंके आधाररूप सद्रूप धर्मिके धर्मोंका वाचक होनेके कारण उनका उपलक्षक है. अथवा गमनकी क्रिया और प्रवेशकी क्रिया एक होने पर भी भिन्न होनेसे "जन्म जिनका आदि हो" उनकी जातिका वाचक एकवचन समझना चाहिये. उसमें भी **'जन्म'** शब्द तो प्रयोग होने से सिद्ध ही है.

अथवा किम् अनया कुसृष्ट्या! जन्म आद्यस्य आकाशस्य यतः इति "तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः" (तैत्ति.उप.२।१) इत्येव विचार्यते फलसम्बन्धित्वात्. तेन एकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः प्रकारान्तरेऽपि, "यतो वा इमानि भूतानि" (तैत्ति.उप.३।१) इत्यत्र विस्फुलिंगवत् सर्वोत्पत्तिः. अत्रतु क्रमेण इति विशेषः. एतेन सर्वएव प्रकाराः सूचिता वेदितव्याः.

ब्रह्मविचारे ब्रह्मणोऽपि अधिकृतत्वात् "तद् ब्रह्म" इति आयाति नतु अध्याहारः.

अनुवाद : अथवा ऐसी जटिलतामें क्यों पड़ना चाहिये! 'आद्य'का अर्थात आकाशका जन्म जिसके कारण होता हो उस ब्रह्मके बारेमें श्रुतिमें कहा जा रहा है **"उस आत्मामें से (पहेले) आकाश प्रकट हुआ"** (तैत्ति.उप.२।१) इस श्रुतिवचनको ही इस सूत्रमें विचारणीय विषयरूप वचनके रूपमें लेना चाहिये. क्योंकि जिस ब्रह्मको जाननेसे परमफलकी

अनुभूति होती हो उस ब्रह्ममेंसे आकाश प्रकट हुआ इस प्रकार फलवचनके साथ जुड़ा हुआ यह वाक्य है. अतः यहां जो निर्णय शास्त्रार्थका लेनेमें आये वह **''जिसमेंसे यह भूत-भौतिक पदार्थोंका जन्म हुआ...''** (तैत्ति.उप.३।१) इस श्रुति वचनमें अग्निमेंसे विस्फुलिंगोंकी तरह जड़-चेतन तत्त्वोंकी एक साथ उत्पत्तिका निरूपण करनेकी शैलीमें कहा गया है. परन्तु प्रस्तुत श्रुतिवचनमें आकाश आदि पदार्थोंकी क्रमशः उत्पत्तिकी निरूपण करनेकी शैली अनुसरण करनेमें आयी है. केवल इतना ही भेद रह जाता है. इस कारण श्रुतिवचनोंमें अभिप्रेत सृष्टिकी उत्पत्तिके विविध प्रकारोंका सूचन इस सूत्रके अंतर्गत लिया जा सकता है. ब्रह्मके बारेमें विचार करनेके लिए सूत्रकार प्रवृत्त हुए हैं इसलिए जिसमेंसे आकाश आदि तत्त्व प्रकट हुए हैं उसे ब्रह्म समझना, यह संदर्भोपात्त होनेसे मिल रहा है अर्थात् अध्याधार = अन्य शब्दोंको जोड़नेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती.

(ख) शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिः शास्त्रोक्तकारणत्वाद् इति अर्थः. शास्ति इति शास्त्रं वेदः, सामान्यग्रहणं पूर्वकाण्डे पूर्वसृष्टिवाक्यानां संग्रहार्थम्. यथा अस्यैव कारणत्वं न अन्यस्य तथा उपरिष्टाद् वक्ष्यामः. मतान्तरवद् जन्मादीनां न विकारित्वं किन्तु आविर्भावतिरोभावावेव. तथा उत्तरत्र वक्ष्यते तदनन्यत्वाधिकरणे (ब्र.सू.२।१।१५). नामलीलाया-अपि न पृथग् निरूपणं प्रपञ्चमध्यपातात्.

अनुवाद : (ख) शास्त्रमें जिसे योनि = कारणके रूपमें माना गया हो वह शास्त्रयोनि. अर्थात् ''शास्त्रोक्त कारण होनेसे'' ऐसा अर्थ समझना चाहिये. जो हम जानते ही न हों, ऐसा उपदेश कोई करता हो, प्रस्तुत संदर्भमें वेदको शास्त्र कहा जाता है. यहां 'उपनिषद्' न कहकर जो 'शास्त्र' पदका प्रयोग करनेमें आया उसका प्रयोजन वेदके पूर्वकांडमें भी जो सृष्टिकी उत्पत्तिका निरूपण मिलता है उनको सम्मिलित करनेके लिए है. ब्रह्मके अतिरिक्त कोई अन्य कारण हो ही नहीं सकता,

यह बात आगे समझायेगें. दूसरे मतवादोंमें जैसे जन्म-स्थिति वृद्धि-ह्रास अथवा लय-नाश को सत्तामें प्रकट होते विकारके रूपमें निरूपित किया जाता है, वैसे यहां करनेमें नहीं आता, अपितु आविर्भाव-तिरोभावके अलग-अलग प्रकारोंके रूपमें स्वीकारनेमें आया है. इस विषयका प्रतिपादन आगे जाकर 'तदनन्यत्वाधिकरण'में किया जायेगा. रूपसृष्टिकी तरह नामसृष्टिकी लीलाका पृथक् निरूपण यहां आवश्यक नहीं है. क्योंकि उसका इस रूपसृष्टिमें ही अन्तर्भाव मान लिया गया है.

(जन्माद्यस्याधिकरणमतान्तरीयव्याख्याविमर्शः)

केचित् * पृथग्रूपनामप्रपञ्चकर्तृत्वं योगविभागेन प्रतिज्ञाय समन्वयादिसूत्रेष्वेव हेतून् वर्णयन्ति. अन्वयसिद्ध्यर्थं च ''अतति व्याप्नोति'' इति अत् शास्त्रे योनित्वं प्राप्तं तद्* इति, न एतत् सूत्रकारसंमतम् इति प्रतिभाति. तस्मात् सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तिमत्त्वं च सिद्धं निरंकुशजगत्कर्तृत्वेन.

(जन्माद्यस्य अधिकरणकी मतान्तरीय व्याख्या)

अनुवाद : कोई व्याख्याकार * रूपसृष्टिके कर्ता होनेके उपरांत नामसृष्टिके कर्ता होनेके प्रतिपादनके लिए एक ही सूत्रको दो अलग भागोंमें विभाजित करनेवाली व्याख्या देकर, उसका हेतु आगे **''तत्तु समन्वयाद्''** (ब्र.सू.१।१।३) आदि सूत्रमें बताना चाहते हैं. ऐसे दिखलानेमें सूत्रोंके पदोंका अन्वय करते हुए 'अतति'=जो व्याप्त होता हो वह 'अत्', शास्त्रमें जिसे सृष्टिकी **योनि** = कारणके रूपमें प्राप्त अथवा व्याप्त कहा गया हो वह 'शास्त्रयोनित्वात्' * भी ऐसी व्याख्या देते हैं पर यह सूत्रकारको मान्य हो ऐसा लगता नहीं है. इसलिये इस जगत्के निरंकुश कर्ता होनेके कारण ब्रह्मका सर्वज्ञ होना और सर्वशक्तिमान होना सिद्ध होता है.

(तत्र अवान्तरशंकासमाधाने)

ननु न सर्वो वेदो ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वेन मानं, तपोयज्ञादियुक्त-

प्रजापति-प्रभृतीनामेव जगत्कारणत्वस्य पूर्वकाण्डे तत्तदुपाख्यानेषु अवगम्यमानत्वात्. नच अवान्तरकारणत्वं, परस्य अश्रवणात्. उत्तरकाण्डेतु द्वयप्रतिपादनाद् विरोधः सन्देहः च. मीमांसायाः सन्देहनिवारकत्वेऽपि एकांशस्य अप्रामाण्यं स्यात्. उभयसमर्थने शास्त्रवैफल्यं वा, वेदप्रामाण्यादेव तत्सिद्धेः, बाधितार्थवचनं वेदे नास्ति इति अवोचाम.

(एक अवान्तर शंकासमाधान)

अनुवाद : यहां एक शंका होती है कि समग्र वेदको ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्रके रूपमें स्वीकारना उपपन्न हो नहीं सकता. इसलिए समग्र वेदको ब्रह्मके जगत्कर्ता होनेके बारेमें प्रमाणरूपसे भी मान्य नहीं किया जा सकता. क्योंकि वेदके पूर्वकांडके उन-उन उपाख्यानोंमें तप यज्ञ आदि साधनद्वारा प्रजापति आदिको जगत्के सृजनहारके रूपमें वर्णित किया है. इसका यह उत्तर भी शक्य नहीं है कि ब्रह्म मुख्य कारण है और प्रजापति आदि उस ब्रह्मके आधीन अवान्तरकारण अथवा सहायक कर्ता हैं, क्योंकि पूर्वकांडमें ऐसे कोई परमकारण अथवा परमकर्ता का प्रतिपादन मिलता नहीं है. वेदोंके उत्तरकांडमें तो दोनों प्रकारका प्रतिपादन मिलनेसे आन्तरिक विरोध और उसके कारण इस धारणामें संदेह भी होने लगता है. यद्यपि मीमांसाको संदेहवारकके रूपमें स्वीकारनेमें आया है फिर भी वेदके ऐसे विरोधाभासी प्रतिपादनवाले अंश अप्रामाणिक तो लगते ही हैं. इसीलिए पूर्वकांडोंमें मिलते उभयविध कर्ताओंका यदि समर्थन करना चाहें तो शास्त्रविचार ही या तो विफल हो जायेगा अथवा वेदोंको प्रमाणरूप मान्य किये जाते होनेसे ही उस प्रयोजनकी पूर्ति शक्य होनेसे उत्तरमीमांसा अनावश्यक सिद्ध होगी. क्योंकि वेद वचनोंसे प्रतिपादित अर्थोंका बाध हो नहीं सकता, यह तो स्वीकारनेमें आया ही है.

(द्वितीयावान्तरशंकासमाधाने)

किञ्च * वेदान्ताः किं वेदशेषाः वेदाः वा ?

न आद्यः, अनुपयोगात्. अनारभ्याधीतत्वेन तदुपयोगित्वे पूर्वकाण्डविचारेणैव गतार्थत्वं विद्याप्रवेशः च. न द्वितीयो, यज्ञाप्रतिपादनाद्, मन्त्रब्राह्मणत्वाभावात् च. तस्माद् वेदोषराः वेदान्ताः इति तेषां किं स्याद्!* इति चेद्;

(द्वितीय अवान्तर शंका-समाधान)

अनुवाद : एक सवाल यह भी उभरता है कि उपनिषदोंको जो 'वेदान्त' कहा जाता है वह वेदोंके अंगभूत शास्त्र होनेके कारण अथवा साक्षात् वेद ही होनेके कारण ?

*वेदोंके अंगरूप माने नहीं जा सकते क्योंकि वैदिक कर्मानुष्ठानमें कहीं भी उपनिषदोंका विनियोग नहीं होता. किसी भी वैदिक कर्मानुष्ठानमें उपयोगमें आते प्रकरणके रूपमें वेदान्तोंका पठन-पाठन करनेमें नहीं आता. इसलिए किसी अन्य प्रकारसे इन वेदान्तोंकी उपयोगिता स्वीकारने पर पूर्वकांडीय विषयोंकी मीमांसासे ही काम चल जाता हो तो उपनिषदोंका वेदविद्यामें कोई स्थान मान्य नहीं हो पायेगा.

उपनिषदोंको साक्षाद् वेदरूपसे ही मानते हों तो वेदके मन्त्र या ब्राह्मण की तरह उपनिषदोंमें यज्ञयागादि कर्मोंका प्रतिपादन तो मिलता नहीं है. इसलिए वेदान्त न तो मंत्ररूप हैं और न ब्राह्मणरूप ही. अतः वेदोक्त किसी भी फलके प्रतिपादक न होने के कारण वेदोंकी बंजर भूमि जैसे ये वेदान्त लगते हैं. ऐसे उपनिषदोंकी मीमांसासे क्या लाभ!*

मा एवम्, अस्ति तावद् वेदत्वम् अध्ययनादिभ्यः स्मरणात् च. प्रमाणञ्च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे. सच न यज्ञः चेद् ब्रह्म भवतु. नच एतावता अवेदत्वम्, अतिप्रसंगात्. शक्यतेहि अग्निहोत्रादीनाम् अन्यतरद् अनन्तर्भाव्य तथा वक्तुम्. तस्माद् ब्रह्मापि

प्रतिपादयन्तो वेदान्ताः वेदत्वं न व्यभिचरन्ति इति. मन्त्रब्राह्मणरूपत्वञ्च उत्पश्यामः : ऋगेव मन्त्रो, ब्रह्मप्रतिपादकं ब्राह्मणं, तच्छेषाः सृष्ट्यादिप्रतिपादकाः.

अनुवाद : पूर्वपक्षकी यही धारणा झूठी है. क्योंकि उपनिषद वेदरूप तो हैं ही, वेदरूपसे ही इनका पठन-पाठन होता होनेसे और स्मृतियोंमें भी इस रूपमें मान्य होनेके कारणभी. अब यदि समग्र वेद प्रमाणके रूपमें मान्य हो तो उसमें जो कुछ भी कहा गया है, उसकी प्रामाणिकताको भी मान्य करना पड़ेगा. यह यदि यज्ञरूप न हो और ब्रह्मरूप हो तो उसको भी वेदोंसे प्रामाणित मानना पड़ेगा. उस ब्रह्मका अथवा ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषदोंका वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें उपयोग नहीं दिखलायी देनेमात्रसे केवल उन्हें अप्रमाणित अथवा अवेद ठहरानेमें आता हो तब तो अव्यवस्था खड़ी हो जायेगी. क्योंकि अग्निहोत्र आदि कर्मोंमें भी दूसरे किसी कर्मका उपयोग अन्तर्भाव दीखता नहीं सो वह कर्म अथवा उसके प्रतिपादक प्रकरण पर भी अप्रामाणिक होनेका आरोप लगाया जा सकता है. ब्रह्मके प्रतिपादक उपनिषद = वेदान्त भी वेद तो हैं ही. इसलिए वेद मंत्ररूप हैं अथवा ब्राहणरूप, दोनोंमेंसे उपनिषदोंको क्या मानना? इस जिज्ञासाका भी समाधान उपनिषदोंको दोनों ही रूप मानकर दिया जा सकता है : उपनिषदोंमें वर्णित ऋचाएं मंत्र हैं, उसमें भी ब्रह्मप्रतिपादक अंश ब्राहणरूप हैं और सृष्टि आदि प्रतिपादक वचन उसके अंगोंके प्रतिपादक है.

यद्यपि न विधीयते तथापि तादृशमेव ज्ञानं फलाय इति युक्तम् उत्पश्यामः. पूर्ववैलक्षण्यन्तु भूषणाय. काण्डद्वयस्य अन्योन्योपकारित्वाय साधारणग्रहणम्. "यदेव विद्यया करोति" (छान्दो.उप.१।१।१०) इत्यादिना पूर्वशेषत्वं सर्वस्य. "तम् एतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति" (बृह.उप.४।४।२२) इत्यादिना सर्वस्य उत्तरशेषत्वम्. कर्मब्रह्मणोः क्रियाज्ञानयोः धर्मिपरत्वेन ऐक्यात् कर्तृवाक्येषु सर्वत्र

न विरोधः. तस्मात् शास्त्रयोनित्वं सिद्धम्.

अनुवाद : कर्मोंकी तरह ज्ञानके बारेमें विधान हो नहीं सकता, इतने भरसे ज्ञानको निष्फल नहीं माना जा सकता. क्योंकि उपनिषद्में वर्णित प्रकारका ज्ञान ही फलप्रद होता है. अन्यथा प्रकारसे होता ज्ञान निष्फल होता है ऐसा स्वीकारनेमें आपत्तिजनक कोई बात नहीं है. वेदोंके पूर्वकांडसे विलक्षण विषय और उसकी निरूपणशैली तो गुण है अवगुण नहीं. दोनों कांड एक-दूसरेके उपकारक होनेके कारण 'संहिता' 'ब्राह्मण' अथवा 'उपनिषद्' ऐसे पद प्रयोगोंके स्थान पर **'शास्त्र'** पदका प्रयोग योग्य है. **''जो कर्म उपनिषदोंकी विद्याके साथ करनेमें आता है वह वीर्यवत्तर बन जाता है.''** (छान्दो.उप.१।१।१०) इत्यादि वचनोंके आधारपर पूर्वकांडोक्त कर्ममें जिस प्रकार वैदिक प्रकरणोंको अंगरूप माना जाता है, उसी प्रकार **''वेदोंके पठन-पाठन करके ब्राह्मण ब्रह्मको जानना चाहते हैं''** (बृह.उप.४।४।२२) इत्यादि वचनोंके आधारपर ब्रह्मज्ञानके लिए अंगभूत समग्र वैदिक प्रकरण हैं, ऐसा कहा जा सकता है. कर्म और ब्रह्म, जो क्रिया और ज्ञान रूपी हैं, वे क्रिया और ज्ञान धर्म होनेसे धर्मीकी अपेक्षा रखते हैं, वह ब्रह्म तो ऐकमेव अद्वितीय होनेसे उस ब्रह्मको ही इस जगत्के कर्ताके रूपमें वर्णन करनेवाले वचनोंमें कहीं भी विरोध उपस्थित नहीं होता. इसलिए ब्रह्मका शास्त्रयोनि होना सिद्ध होता है.

(तृतीयावान्तरशंकासमाधाने)

केचिद् अत्र 'जन्मादि'सूत्रं लक्षणत्वाद् अनुमानम् इति वर्णयन्ति. अन्ये पुनः श्रुत्यनुवादकम् आहुः सर्वज्ञत्वाय श्रुत्यनुसार्यनुमानं च ब्रह्मणि प्रमाणम् इति. तत्तु ''तन्तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'' (बृह.उप.३।९।२६) इति केवलोपनिषद्वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम्, अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य. मनन-निदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वं, सन्देहवारकत्वात् शास्त्रस्यापि तदंगत्वम् इति.

(तीसरा अवान्तर शंका-समाधान)

अनुवाद : कितने ही कोई व्याख्याकार इस ''जन्मादि'' सूत्रमें ब्रह्मकी परिभाषा या लक्षण दिये जाते होनेके कारण ब्रह्मकी सत्ताके साधक अनुमानके रूपमें इस सूत्रका वर्णन करते हैं. दूसरे कई व्याख्याकार इस सूत्रको सृष्टिके जननका वर्णन करनेवाली श्रुतिके अनुवादक वचनके रूपमें मान्य करते हैं. ब्रह्मकी सर्वज्ञता सिद्ध करनेके लिए ''सर्वज्ञ होनेके कारण श्रुतिका अनुसरण करनेवाला अनुमान भी प्रमाण हो सकता है'' ऐसा कहकर. ऐसी सारी बातें **''वह उपनिषद्-वर्णित पुरुष = ब्रह्मके बारेमें पूछना चाहता हूं''** (बृह.उप.३।९।२६) ऐसे वचनोंके आधार पर ब्रह्म तो केवल उपनिषदोंके आधार पर ही जिसे जाना जा सके ऐसा होनेके कारण उपेक्षणीय बात लगती है, प्रस्तुत एक प्रमाणके अलावा दूसरे कोई भी ज्ञानके साधनोंसे यदि प्रमेयको न जाना जा सके, तब तो उस प्रमेयके बारेमें केवल उस प्रमाणको ही माना जाता है. मनन अथवा निदिध्यासन भी उपनिषद्के वचनोंका तो श्रवण किया हो उसके अंगरूप होनेके कारण सुनी हुयी बातमें आनेवाले संदेहोंके वारक होनेसे यह प्रस्तुत शास्त्र भी सन्देहवारक होनेसे भी वेदका अंगरूप है.

[२]समन्वयाधिकरणम्

(समन्वयाधिकरणविषयः)

तत्र एतत् स्यात्, तत्र किं समवायि निमित्तं कर्तृ वा?

(समन्वय अधिकरणगत विषय)

अनुवाद : इस अधिकरणमें विचारणीय विषय यह है कि ब्रह्मका कर्ता अथवा कारण होना जो प्रतिपादित किया तो वह समवायी कर्ता है अथवा निमित्त कर्ता है?

(समन्वयाधिकरणसंशयः)

किम् अतो यदि एवम्? एवम् एतत् स्याद् : यदि एकमेव स्यात् तदा क्रिया-ज्ञानशक्त्योः निरतिशयत्वं भज्येत मृदादिसाधारण्यं च स्यात्. मतान्तरवत् कथम् एवं सन्देहो यावता ''यतो वा इमानि'' (तैत्ति.उप,३।१) इत्यादिभ्यो निःसन्देहश्रवणात्? एवं हि सः : पञ्चमी श्रूयते 'यतः' इति पञ्चम्याः 'तसिल्' इति, 'आत्मनः' इत्यपि पञ्चमी, निमित्तत्वे न सन्देहः, पञ्चम्याः निमित्तत्वकथनात्.

उपादानत्वे कर्तृत्वे च सन्देहः तद्वाचकाश्रवणात् कल्पनायां प्रमाणाभावात्. समवायित्वे पुनः सुतरां सन्देहः. एवं प्राप्ते आह -

(समन्वय अधिकरणगत संशय)

अनुवाद : ब्रह्म समवायिकारण हो या निमित्तकारण इससे फरक क्या पड़ेगा? फरक इस प्रकार पड़ता है कि यदि वह ब्रह्म एकमेव-अद्वितीय ही हो तो उसकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति जागतिक क्रियाशक्ति अथवा ज्ञानशक्ति जैसी नहीं हो सकती. तदुपरांत जागतिक माटी आदि समवायी कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले घड़ा आदि अपने कार्योंके गुणधर्मसे

जैसे ग्रस्त होते हैं, वैसे ब्रह्मके बारेमें भी स्वीकारना पड़ेगा. **''जिन कारणोंसे सारे भूत जन्म लेते हैं''** (तैत्ति.उप.३।१) ऐसे वचनोंके आधारपर किसी भी संदेहके बिना ब्रह्मका समवायी होना तो सिद्ध ही है. इसलिए ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि वेदमूलक बातोंके बारेमें वेदोंको न माननेवाले मतोंमें करनेमें आती शंका-कुशंका करनी योग्य नहीं हैं. क्योंकि शंका तो यहां होती ही है क्योंकि **'यतः** = जिस कारणसे' कहते ही यह पंचमी विभक्ति हुयी, उसी प्रकार **'आत्मनः** = आत्माके कारण' कहा यह भी कारणताद्योतक पंचमी विभक्ति है.

ब्रह्मको, परन्तु, निमित्तकारण माननेमें आये तो संदेह नहीं उभर पाता. ऐसा ब्रह्म उपादान कारण कैसे हो सकता है? इस बारेमें तो संदेह स्वाभाविक ही है. क्योंकि कर्ता होना इस वचनमें कहीं भी शब्दशः स्पष्ट होता नहीं है, इससे ऐसी कल्पना प्रमाणरहित लगती है. समवायी कारण होनेकी कल्पना तो और भी अधिक संदेहास्पद लगती है, ऐसे पूर्वपक्षोंका समाधान देते हैं :

(समन्वयाधिकरणसिद्धान्तः)

तत्तु समन्वयात् ॥१।१।३॥

'तु' शब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थो, निमित्तत्वस्य श्रुतिसिद्धत्वाद्, मतान्तरनिराकरणत्वेन अग्रे वक्ष्यते. तद् ब्रह्मैव समवायिकारणं, कुतः? समन्वयात् सम्यग् अनुवृत्तत्वाद्, अस्ति-भाति-प्रियत्वेन सत्-चिद्-आनन्दरूपेण अन्वयात्. नाम-रूपयोः कार्यरूपत्वात्. प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात्. अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे, ज्ञानेन बाधदर्शनात्. नानात्वन्तु ऐच्छिकमेव जडजीवान्तर्यामिष्वेव एकैकांशप्राकट्यात्. कथम् एवम्? इति चेद् न, सद्रूपे घटरूपप्रक्रियास्विव तारतम्येन आविर्भाववद्, जडेऽपि भानत्वादिप्रतीतेः. तारतम्येन आविर्भावो अंगीकर्तव्यो, भगवदिच्छायाः नियामकत्वात्.

(समन्वय अधिकरणगत सिद्धान्त)

अनुवाद : सूत्रकारने **'तु'** शब्दका उपयोग पूर्वपक्षका अस्वीकार करनेके लिए किया है. ब्रह्मका निमित्तकारण होना तो दूसरे श्रुतिवचनोंके आधारपर सिद्ध ही होनेसे मतान्तरोंका निराकरण आगे करनेमें आयेगा ही. **'तत्'** अर्थात् ब्रह्म तो समवायी कारण है ही उसका हेतु कहते हैं **'समन्वयात्'** सम्यक् प्रकारसे वह कार्यरूपी जगत्में अनुवृत्त होनेसे. 'है', 'भान होता है', और 'प्रिय लगता है', ऐसे तीन प्रकारसे वह ब्रह्म अपने सत्-चित्-आनन्दरूपसे जगत्में अन्वित है. ''यह है'', ''इसका भान होता है'' अथवा ''यह प्रिय लगता है'' ऐसी अनुभूति जो रूप अथवा नाम के बारेमें होती हो तो वह रूप-नाम ब्रह्मका कार्य होनेसे उसमें कारणके गुणधर्मोंकी अनुभूति होनी योग्य ही है. स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी, वेदान्तमतमें, ब्रह्मका अंश होनेके कारण सारा प्राकृत जगत् ब्रह्मका कार्यरूप है. जागतिक रूप अथवा नाम में अनुभूत होनेवाली परिच्छिन्नता और अप्रियता तो ब्रह्मके अज्ञानके कारण होती है. ब्रह्मज्ञान होनेपर वह परिच्छिन्नता और अप्रियता की अनुभूति बाधित हो जाती है. तदुपरांत जो उस ब्रह्मके एकत्वके स्थान पर नानात्व (अनेकत्व) दिखलायी देता है वह तो स्वयं ब्रह्मके नाना (अनेक) होनेके संकल्पके कारण हे. क्योंकि जड़ पदार्थोंमें ब्रह्मने अपना सदंश. जीवात्माओंमें चिदंश और अंतर्यामीमें आनन्दांश प्रकट किया है. ऐसा क्यों किया? उसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि एक ही मिट्टीमेंसे दो सद्रूप घड़ोमें भी उनके अलग-अलग रूप और उनकी अलग-अलग अनुपातमें जल-धारण करनेकी क्षमता तारतम्यसे प्रकट होती हैं. जड़ पदार्थोंमें भी भान आदिकी अनेकविध प्रतीतिमें भी भगवदिच्छाको नियामक मानकर तारतम्यसे होते आविर्भावके कारण वह होती है, यह अंगीकार करना चाहिये.

नच साधारण्येन सर्वजगत् प्रति परमाण्वादिनाम् अन्वयः सम्भवति, एकस्मिन् अनुस्यूते सम्भवति अनेककल्पनायाः अन्याय्यत्वात्. लोके

कर्तृविशेषवद् उपादानविशेषग्रहणेऽपि न ब्रह्मणि व्यभिचारो. अलीकप्रतीतेः अस्तित्वादिप्रतीतावपि सम्यग् अन्वयाभावाद् न कार्यत्वव्यभिचारौ तस्माद् ब्रह्मणएव समवायित्वम्. एतत् सर्वं श्रुतिरेव आह ''तद्(/स) आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७) इति निमित्तत्वन्तु स्पष्टमेव सर्ववादिसम्मतम्.

समग्र जगत्में, सर्वसाधारणरूपसे, परमाणु आदि कोई भी कारणतया माने जाते पदार्थोंका सर्वत्र अन्वय नहीं दीखता है. उसके अतिरिक्त किसी एक कारणको अनुस्यूत यदि माना जा सकता हो तो अनेक कारण तत्त्वोंकी कल्पना अयुक्त ही माननी पड़ेगी. लोकमें किसी विशेष कार्यके उदाहरणमें कोई विशेष कर्ता हो तावता ब्रह्मके सर्वकर्ता होनेमें जैसे कोई समस्या नहीं है. वैसे ही लोकमें किसी विशेष कार्यका कोई विशेष समवायी कारण हो तो भी ब्रह्मके समावायी कारण होनेमें आपत्ति नहीं आती. जिस किसी भी रूपमें प्रतीत अलीक (जिसका अस्तित्व ही न हो ऐसी) वस्तुमें भी यद्यपि अस्तित्व भान अथवा प्रियता भी अनुभूत होनेपर भी कारणभूत ब्रह्म वहां उपादानरूपसे भलीभांति अन्वित नहीं होनेसे कार्य-कारणके नियमका उल्लंघन नहीं होता. इसलिए ब्रह्म ही समवायी है. यह स्वयं श्रुतिमें ही वर्णित किया गया है **''उसने स्वयंको ही सृष्टिरूपसे प्रकट किया''** (तैत्ति.उप.२।७). ब्रह्म निमित्त कारण है वह तो दूसरे वादियोंको भी मान्य है ही.

(समन्वयाधिकरणमतान्तरीयव्याख्याविमर्शः)

केचिद् अत्र शास्त्रयोनित्वपूर्वपक्षनिराकरणाय तत्तु समन्वयाद् इति योजयन्ति. तत् पूर्वपक्ष-सिद्धान्तयोः द्वयोरपि असंगतत्वाद् उपेक्ष्यम्. तथाहि जैमिनिः : धर्मजिज्ञासामेव प्रतिज्ञाय तत्प्रतिपादकस्य पूर्वकाण्डस्य समन्वयम् आह, अवान्तरवाक्यानां प्रकारशेषत्वात्. नच सर्वस्मिन् वेदे धर्मएव जिज्ञास्यः, तद्गुरुणैव व्यासेन ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात्. सन्देहमात्रवारकत्वाद् जिज्ञासयोः नतु अलौकिकार्थसाध-

कत्वम्. तथासति वेदानाम् अन्याधीनत्वेन अप्रामाण्यं स्यात्. 'वेदजिज्ञासा' इत्येव उक्तं स्यात्.

(समन्वय अधिकरणकी मतान्तरीय व्याख्याओंका विमर्श)

अनुवाद : कितने ही व्याखाकारोंके अनुसार **''शास्त्रयोनित्वात्''** सूत्रमें जो पूर्वपक्ष निरूपित हुआ उसके निराकरणके लिए यह **''तत्तु समन्वयात्''** सूत्र है. पर इस प्रकारके अर्थघटनमें तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दोनों ही असंगत हो जाते हैं, इसलिए यह उपेक्षणीय अर्थ है. क्योंकि जैमिनि ऋषिने स्वयंके सूत्रोंमें धर्मजिज्ञासा करनेकी प्रतिज्ञा करके धर्मप्रतिपादक पूर्वकांडका समन्वय दिखाया है. अवान्तरवाक्य धर्मके उपदेशक वचनोंके प्रकारशेष हैं. फिर भी समग्र वेदमें केवल धर्म ही जिज्ञास्य हो ऐसा माना नहीं जा सकता. क्योंकि जैमिनि ऋषिके गुरु महर्षि व्यास स्वयं ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं. यह धर्मजिज्ञासा अथवा ब्रह्मजिज्ञासा केवल श्रुतिवचनोंमें आते हुए संदेहोंके निवारणके लिए ही है. इन जिज्ञासाओंसे अलौकिक पुरुषार्थ कोई सिद्ध हो जाता हो ऐसा नहीं है. क्योंकि यदि यह बात सच्ची हो तो वेद स्वयं अपने अभिप्रेत प्रामाणिक ज्ञान उत्पन्न करनेमें दूसरे साधनोंपर निर्भर होनेके कारण अप्रामाणिक सिद्ध होगा. समग्र वेदमें यदि धर्म ही प्रतिपादनीय हो तो 'धर्मजिज्ञासा' कहनेके बजाय 'वेदजिज्ञासा' इतना कह देना पर्याप्त हो जाता.

(वेदानां कर्तव्योपदेशैकपरतया मुख्यं ब्रह्मप्रतिपादकत्वं सम्भवति न वा?)

किञ्च

साधनं च फलं चैव सर्वस्य आह श्रुतिः स्फुटम्।
न प्रवर्तयितुं शक्ता तथा चेद् नरको नहि।।
प्रवर्तकस्तु सर्वत्र सर्वात्मा हरिरेव हि।
यज्ञएव हि पूर्वत्र बोध्यते स्वर्गसिद्धये।।
सिद्धएव हि सर्वत्र वेदार्थो वेदवादिनाम्।

मन्त्राणां कर्मणां चैव दर्शनश्रवणात् श्रुतौ॥
कृतिश्च सिद्धतुल्यत्वं वेदः स्वार्थे च सन्मतः।

(वेद केवल कर्तव्योपदेशक शास्त्र है इसलिए ब्रह्म प्रमुखतया अभिप्रेत हो सकता है या नहीं?)

अनुवाद : दूसरी एक बात यह भी ध्यानमें लेने जैसी है कि-

श्रुति ही सभीका साधन और फल भी समझाती है. वह श्रुति किसीको धर्माचरणमें प्रवर्तित करने सक्षम नहीं हैं. यदि होतीं तो श्रुतिके कारण सभी धर्ममार्ग ही पर प्रवृत्त हो जाते और किसीका भी नरकपात होता ही नहीं.

इसलिए सर्वत्र सच्चा प्रवर्तक तो सर्वात्मा हरि स्वयं ही होता है. इसलिए पूर्वकांडमें स्वर्ग प्राप्तिके लिए यज्ञको साधनतया समझानेमें आया है.

श्रुतिवचनोंमें मन्त्रोंके दर्शन और कर्मोंके दर्शनकी जो बात आती है, उससे वेदवादियोंके लिए तो वेदार्थ साध्यार्थ नहीं प्रत्युत सिद्धार्थरूप ही होता है.

इसीलिए वेदोंमें कृतिका भी सिद्ध वस्तुके रूपमें ही निरूपण करनेमें आया है और इसी कारण वेद स्वयंके प्रतिपाद्य विषयके बारेमें प्रमाणतम साधन है.

"प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय इति स एतद् अग्निहोत्रं मिथुनम् अपश्यत्" (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।२) "प्रजापतिः यज्ञान् असृजताम् अग्निहोत्रं च अग्निष्टोमं च पौर्णमासी च उक्थ्यं च अमावास्यां च अतिरात्रं च तान् उदमिमीत यावद् अग्निहोत्रम् आसीत् तावान् अग्निष्टोमः" (तैत्ति.संहि.१।६।९।१) इत्यादि. नहि उपाख्यानानां मिथ्यार्थत्वं बुद्धजन्मनः पुरा उक्तं युक्तं वा. तथा सति वेदानां अप्रामाण्यमेव स्याद्, मिथ्योपाख्यान-प्रतिपादक-लोकवत् तस्मात् पूर्वमीमांसानभिज्ञाः क्रियापरत्वं सर्वस्यापि वेदस्य वदन्तो मूर्खाएव.

अनुवाद : इसके प्रमाणके रूपमें **"प्रजापतिने कामना की कि मैं ही प्रजाके रूपमें प्रकट हो जाऊं... इसलिए उसने इस अग्निहोत्रको मिथुनके रूपमें देखा."** (तैत्ति.ब्राह्म.२।१।२) **"प्रजापतिने यज्ञोंका सर्जन किया उसमें अग्निहोत्र अग्निष्टोम पौर्णमासी उक्थ्य अमावस्या और अतिरात्र भी हैं. इन सारे यज्ञोंका प्रजापतिने माप-तोल किया तब ऐसा लगा कि जितना भार अग्निहोत्रोंका है उतना ही अग्निष्टोमोंका भी है"** (तैत्ति.संहि.१।६।९।१) इत्यादि वचन मिलते हैं. स्वयं भगवान्के बुद्धके रूपमें अवतीर्ण होनेसे पहले ऐसे उपाख्यानोंको मिथ्या कथा माननेकी बात न तो किसीने कही थी और न ही वह युक्त ही होती. क्योंकि ऐसा यदि कोई मानता हो तो, लौकिक कथा वार्ताओंको जैसे प्रमाणरूपमें नहीं माना जाता, वैसे ही वेदोंको भी अप्रमाण माना जाता. इसीलिए समग्र वेदोंका अभिप्राय केवल कर्मानुष्ठानमें सीमित माननेवाले सच्चे पूर्वमीमांसक नहीं हैं अपितु स्वयं वैदिक सिद्धान्तसे अनजान हैं.

(उपनिषदां ब्रह्मज्ञानोपदेशैकप्रयोजनवत्त्वेन ब्रह्माज्ञानिनामेव कृते पूर्वकाण्ड--प्रामाण्यं युक्तम् अयुक्तं वा?)

उत्तरवादिनोऽपि पूर्वाज्ञानम् अंगीकृत्य पूर्वानुपयोगित्वं ब्रह्मज्ञानस्य वदन्तो वेदानभिज्ञाएव. "यदेव विद्यया करोति श्रद्धया उपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (छान्दो.उप.१।१।१०) इति उपनिषज्ज्ञानस्य श्रुतिसिद्धैव कारणता. नच *बाधितत्वात् त्यज्यते* इति वाच्यं, ब्रह्मात्मज्ञानवतएव वशिष्ठादेः यज्ञाधिकारात्. नच *एवं किम् अनेन?* इति वाच्यं, इत्थंभूतत्वाद् यज्ञस्य. किञ्च कर्मफलवत् ब्रह्म(ज्ञान)फल-स्यापि लौकिकत्वात्, "य एवं वेद प्रतितिष्ठति अन्नवान् अन्नादो भवति महान् भवति प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या" (तैत्ति.उप.३।६) इति. अत्यन्ताविद्यावतो यज्ञानधिकारात् तन्निषेधार्थं ज्ञानम् उपयुज्यते. नच देहाध्यासस्य कारणत्वम् "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" (भग.गीता ४।२४) इत्यादिस्मृतेः.

(उपनिषदोंको अभिप्रेत केवल ब्रह्मज्ञान है इसलिए पूर्वकाण्ड ब्रह्मको ना जाननेवालोंके लिए ही प्रमाण अथवा अप्रमाण है ?)

अनुवाद : उसी प्रकार उत्तरमीमांसकोंमेंसे भी कई पूर्वकांडसे अनजान होनेके कारण ब्रह्मज्ञानका पूर्वकांडीय कर्मोंमें अनुपयोग मानते हैं. वे भी वेदोंसे अनभिज्ञ ही हैं. क्योंकि **"जो भी कर्म श्रद्धापूर्वक ज्ञानपूर्वक या उपनिषदोंकी विद्याके साथ सम्पन्न किया जाता है वह कर्म वीर्यवत्तर हो जाता है"** (छान्दो.उप.१।१।१०) उपनिषद्के ऐसे वचनोंके आधारपर उपनिषदोंकी कर्मानुष्ठानमें उपयोगिता तो सिद्ध ही है. इस वचनको बाधितार्थका प्रतिपादक होनेसे त्याज्य नहीं माना जा सकता, ब्रह्मात्मज्ञानवाले वशिष्ठ आदि ऋषि-महर्षियोंके बारेमें भी यज्ञ करने और करवाने का उल्लेख मिलता होनेसे. ऐसा तर्क भी यहां देना उचित नहीं है कि ब्रह्मज्ञानी होनेके कारण उन्होंने यज्ञ-यागादि किये उससे उन्हें किसी प्रकारका अधिक लाभ तो मिला नहीं, यदि वो नहीं करते तो कोई न्यूनता भी उनके ब्रह्मज्ञानमें नहीं रह जाती, क्योंकि यज्ञोंके अनुष्ठानमें ब्रह्मविद्याके जो अंग माननेमें आते हैं तो दूसरी प्रकारसे उनके अनुष्ठानकी श्रेष्ठ सफलता शक्य ही नहीं थी. कर्मफलकी तरह, श्रुतिवचनोंमें भी, ब्रह्मज्ञानका भी फल लौकिक मिलनेका उल्लेख कहां नहीं मिलता? देखो **"जो इस प्रकार जानता है वह प्रतिष्ठा पाता है, अन्नवान् और अन्नाद बनता है, प्रजा पशु ब्रह्मवर्चस् और कीर्ति से महान् बन जाता है"** (तैत्ति.उप.३।६). जो अत्यंत अज्ञानी होता है उसे यज्ञोंके अनुष्ठानका अधिकारी नहीं माना जा सकता. इसीलिए यज्ञानुष्ठानके लिए जो अनधिकारी हो उसके निषेधके लिए ज्ञान उपयोगी होता ही है. यज्ञादि कर्म करनेका अधिकार तो जिसको देहाध्यास हो उसीको होता है, ऐसा तर्क भी योग्य नहीं है, क्योंकि **"अर्पणकी क्रिया ब्रह्म है, जिस हविका अर्पण करनेमें आता है, वह भी ब्रह्म है और अर्पणकर्ता भी ब्रह्म है"** (भग.गीता ४।२४) इत्यादि स्मृति वचनोंके आधारपर कर्मानुष्ठानमें ब्रह्मज्ञान बुना हुआ तो है ही.

(एवं द्विविधमतान्तरनिरसनात् सिद्धो निष्कर्षः)

तस्माद् अन्योन्योपयोगित्वे न कोऽपि दोषः क्रियाज्ञानयोः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं भिन्नतया शास्त्रप्रवृत्तिः.

(दो प्रमुख मतान्तर अमान्य होनेके कारण मिलता निष्कर्ष)

अनुवाद : इसलिए एक-दूसरेमें एक-दूसरेकी उपयोगित छिपी हुयी है. यह ऐसी कोई समस्यावाली बात नहीं है. उसमें भी क्रिया और ज्ञान एक-दूसरेके अधीन हुए बिना भी सामान्य प्रकारसे पुरुषार्थसाधक बन सकते होनेके कारण भिन्नतया भी शास्त्रोंकी प्रवृत्ति योग्य ही है.

(ब्रह्मणः समवायिकारणत्वं वा सर्वश्रुतीनां ब्रह्मणि समन्वयप्रतिपादनेन विरोधनिराकरणं वा अधिकरणाभिप्रेतम् ?)

किञ्च वेदान्तवाक्यानाम् अस्मिन् शास्त्रे समन्वयएव प्रतिपाद्यते सन्देहनिराकरणद्वारा. तत् कथं सिद्धवद्हेतुत्वेन निर्देशः ? अग्रिमवैयर्थ्यं च स्यात्. नच प्रतिज्ञागर्भितहेतुत्वम्, अनुपयोगात्. गौणमुख्यभावे परं विवादः. नच येन रूपेण समन्वयो मतान्तरस्थैः विचारितः तथा अग्रे सूत्रेषु निर्णयो अस्ति. शास्त्रारम्भस्तु प्रथमसूत्रएव समर्थितः. तस्मात् समवायिकारणत्वमेव अनेन सूत्रेण सिद्धम्.

(इन सूत्रोंमें ब्रह्मके कारण होनेकी मीमांसा है, इस ब्रह्मके बारेमें श्रुतियोंमें किसी तरहका विरोधाभास नहीं है)

अनुवाद : चार अध्यायवाले ब्रह्मसूत्रमें वेदान्तके विविध वाक्योंका समन्वय दिखलाकर संशयका निराकरण करना, यह प्रयोजन है. उस समन्वयको यहां शास्त्रके आरंभके ही अधिकरणमें हेतुके रूपमें प्रस्तुत कर देना, एक वैचारिक धांधल है. वह इस समय प्रस्तुत करनी योग्य भी नहीं है. समन्वय मान कर ही आगे बढ़ना हो तो अग्रिम चिंतनकी कोई सार्थकता नहीं रह जाती. इस सूत्रको प्रतिज्ञागर्भित हेतुके रूपमें

भी मान्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसकी उपयोगिता कितनी? क्योंकि असल विवाद तो वेदोंका पूर्वकांड प्रमुख है अथवा उत्तरकांड, इस बारेमें है. श्रुति वचनोंमें परस्पर समन्वय है अथवा नहीं, इस बारेमें नहीं है. इस बारेमें मतभेद रखनेवाला जैसे श्रुति वचनोंका समन्वय प्रस्तुत करता है, उसके अनुसार आगे कहीं भी कोई विचार किया हुआ ब्रह्मसूत्रमें दिखलायी नहीं देता. श्रुतिवचनोंके अभिप्रायके बारेमें होते संदेहोंका निवारण करके समन्वय साधनेके लिए प्रवृत्त हुए यह शास्त्रोंका प्रारंभ तो प्रथमसूत्र द्वारा ही हो गया.

(समन्वयाधिकरणे समवायिकारणत्वविचारसंगतिः)

ननु *कारणत्वमेव अस्तु ब्रह्मणः किं समवायिकारणत्वेन? विकृतत्वञ्च स्यात्, अनर्थरूपत्वेन कार्यस्य अयुक्तता च, तस्माद् अनारम्भणीयमेव एतत् सूत्रम्* इति चेद्, मा एवं, सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तः सूत्रकारः तद् यदि ब्रह्मणः समवायित्वं न ब्रूयाद् भूयान् उपनिषद्भागो व्यर्थः स्यात्. "इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा" (बृह.उप.४।५।७) "आत्मैव इदं सर्वम्" (छान्दो.उप.७।२५।२) "स सर्वं भवति" (बृह.उप.१।४।१०) "ब्रह्म तं परादात्" (बृह.उप.२।४।६) इत्यादि. "स आत्मानं स्वयम् अकुरुत" (तैत्ति.उप.२।७) "एकमेव अद्वितीयम्" (छान्दो.उप.६।२।१). "वाचारम्भणं विकारः" (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यादि. एवमादीनि वाक्यानि स्वार्थे बाधितानि भवेयुः.

(समन्वय सूत्रकी संगति)

अनुवाद : ऐसी शंका यहां अप्रासंगिक है कि ब्रह्मको केवल कारण माननेसे प्रयोजन सिद्ध हो जाता हो तो समवायी कारण किसलिए मानना? यह धारणा भी उचित नहीं लगती कि समवायी कारण मानने पर कार्यरूपसे ब्रह्म विकृत हो जायेगा और कार्यके नष्ट होनेपर नष्ट भी हो जायेगा. ब्रह्म स्वयं अपने-आपको क्यों बिगाड़ेगा? इसलिए यह सूत्र यहां होना ही नहीं चाहिये था. क्योंकि सूत्रकार तो सारे

उपनिषद्वचनोंका समाधान दिखलानेके लिए यहां प्रवृत्त हुए हैं. इसलिए यदि ब्रह्मके समवायी कारण होनेके बारेमें कोई समाधान नहीं देते तो उपनिषद्के कितने सारे वचन निरर्थक सिद्ध हो जायेंगे. उदाहरणके लिए **''यह सब जो दिखलायी दे रहा है वह आत्मा है''** (बृह.उप.४।५।७) **''यह सब कुछ दिखलायी देता है वह आत्मा है''** (छान्दो.उप.७।२५।२) **''वह स्वयं सभी रूपमें प्रकट हुआ है''** (बृह.उप.१।४।१०) **''ब्रह्म उसे पराभव कर देता है जो ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसीको जानता है अथवा देखता है''** (बृह.उप.२।४।६) **''उसने अपने आपको प्रकट किया''** (तैत्ति.उप.२।७) **''ब्रह्म एकमेव अद्वितीय है''** (छान्दो.उप.६।२।१) **''ब्रह्मसे अलग विकार जैसा कुछ मानना तो मात्र वाचारम्भण है''** (छान्दो.उप.६।१।४) आदि ऐसे कितने ही वचनोंका अर्थ बाधित हो जायेगा.

ननु एवं निःसंदिग्धत्वात् कथं सूत्रप्रवृत्तिः. उच्यते : ''अस्थूल...'' (बृह.उप.३।८।८)-आदिवाक्यान्यपि सन्ति सर्वत्र प्रपञ्च-तद्धर्म-वैलक्षण्य-प्रतिपादकानि. ततो अन्योन्यविरोधेन एकस्य मुख्यार्थबाधो वक्तव्यः. तत्र स्वरूपापेक्षया कार्यस्य गौणत्वात् प्रपञ्चरूपप्रतिपादकाना-मेव कश्चित् कल्पयेत्. तद् मा भूद् इति जन्मादिसूत्रवत् समन्वयसूत्रमपि सूत्रितवान्.

अनुवाद : अब यह बात यदि संदेहसे रहित हो तो ब्रह्मसूत्रोंके निर्माणकी सूत्रकारको अपेक्षा ही नहीं होनी चाहिये. ऐसी शंकाके समाधानमें कहना पड़ेगा कि ब्रह्मको समवायी कारणके रूपमें प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिवचनोंकी तरह **''वह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है....''** (बृह.उप.३।८।८) ऐसे श्रुतिवचनोंमें प्रपञ्चसे और उसके धर्मोंसे विलक्षण भी ब्रह्मका प्रतिपादन मिलता ही है. ऐसी परिस्थितिमें श्रुतिवचनोंमें परस्पर विरोधाभासका भान होनेसे अन्योन्यविरोधी वचनोंमें एक श्रुतिवचनके प्रमुख अर्थका बाध करके और दूसरे श्रुतिवचनोंका प्रमुख अर्थ मान्य

करनेके लिए कोई प्रेरित करे तो स्वाभाविक रूपसे ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिवचन उन्हें मुख्य लगेगा अन्य वचनोंकी तुलनामें. ऐसी कल्पनाओंमें कोई फंस ना जाये उस हेतुसे "जन्मादि...." सूत्रकी तरह 'समन्वय' सूत्र भी सूत्रकारने प्रकट किया है.

(समन्वयाधिकरणनिष्कर्षः)

तथाच अस्थूलादिगुणयुक्तएव, अविक्रियमाणएव, आत्मानं करोति इति वेदान्तार्थः संगतो भवति. विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वन्तु ब्रह्मणो भूषणाय.

(समन्वयाधिकरणके निष्कर्ष)

अनुवाद : इससे इस सूत्रमें ब्रह्म समवायी कारण है अथवा नहीं, उस बारेमें विचार ही अधिक प्रासंगिक लगता है. इससे सिद्ध हो जायेगा कि ब्रह्म अस्थूल आदि गुणोंवाला होने पर भी अविकारी-अविकृत रहकर भी स्वयंको सृष्टिके रूपमें प्रकट कर सकता है. ऐसा वेदान्तार्थ सुसंगत होना सिद्ध होता है. ब्रह्म ऐसे परस्पर विरुद्ध सभी धर्मोंका एक अविरोधी आश्रय है. यह विशेषता तो ब्रह्मके लिए एक आभूषण जैसी बात है.

(समन्वयाधिकरणनिष्कर्षे उपपत्त्यन्तरम्)

किञ्च अन्यपदार्थसृष्टौ वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातां, कर्माधीनत्वेतु अनीशता, ततः कर्तृत्वमपि भज्येत, ततः सर्वमाहात्म्यनाशएव स्यात्. ननु *एवमेव अस्तु अपवादार्थत्वाद् रज्जुसर्पवद् अयुक्तार्थकथनेऽपि न दोषः. "सर्वं समाप्नोषि ततो असि सर्वः" (भग.गीता ११।४०) इति स्मृतेः च* इति चेद्, मा एवं, तथा सति पाषण्डित्वं स्यात्. एतादृशशास्त्रार्थांगीकर्तुः आसुरेषु भगवता गणितत्वात्. "असत्यम् अप्रतिष्ठितं ते जगद् आहुः अनीश्वरम् अपरस्परसंभूतं किम् अन्यत् कामहेतुकम्" (भग.गीता १६।८) इति शास्त्रानर्थक्यं च. "सर्वं समाप्नोषि" इत्यपि असंगतं स्याद्, वस्तुपरिच्छेदात्. नहि वेदो निष्प्रपञ्चरूपकथनम् उक्त्वा

स्वोक्तं जगत्कर्तृत्वं निषेधति. तस्माद् अध्यारोपापवादपरत्वेन व्याख्यातृभिः वेदान्ताः तिलापःकृताः इति मन्यामहे, सर्ववाक्यार्थबाधात्. यथा निर्दोषपूर्णगुणविग्रहता भवति तथा उपरिष्टाद् वक्ष्यामः.

(मायावादके अनुसार माहात्म्यरहित ब्रह्मको स्वीकारनेमें आती आपत्ति)

अनुवाद : तदुपरांत ब्रह्म यदि अपनेसे भिन्न ऐसे किसी पदार्थका निर्माण करता हो तो इस सृष्टिमें अकारण अथवा किसी भी प्रकारके पक्षपात का अपराधके बिना एक-दूसरेसे विषम प्राणीयोंके पक्षपातपूर्ण निर्माण और उसमें भी किसीको विवेकी सुखी और श्रेष्ठ तो दूसरेको अविवेकी दुःखी और अपकृष्ट बनानेवाला दयारहित भी, ब्रह्मको मानना पड़ेगा. इस आक्षेपसे बचनेके लिए यदि कर्मके नियमका बचाव करें तो परमेश्वरको कर्मके नियमके आधीन अनीश्वर मानना पडेगा. तब तो वह ब्रह्म जगत्का कर्ता भी सिद्ध नहीं होगा. यों ब्रह्मका सम्पूर्ण माहात्म्य ही भंग हो जायेगा, ऐसा लगता है.

ऐसी शंका हो सकती है कि * माहात्म्य तो द्वैत घटित होनेसे और द्वैत तो रस्सीपर सांप दिखलायी देनेकी तरह, मायिक है. इसलिए इसका बाध अथवा अपवाद करनेके लिए ही आरोपित करनेमें आता होनेसे कोई समस्या नहीं होगी. इसीसे **''सर्वत्र व्याप्त ना कि सर्व कार्यभूत प्रपंचका समवायी कारण होनेके अभिप्रायसे ब्रह्मको सर्वरूप माननेमें आता है''** (भग.गीता ११।४०) ऐसा भगवद्गीतामें भी कहा गया है.* पर यह धारणा योग्य नहीं है. क्योंकि भगवद्गीतामें तो ऐसा शास्त्रार्थ स्वीकार करनेवालेको 'पाषंडी' कहकर आसुरी सृष्टिमें गिना गया है : **''वे जगत्को ईश्वरके कर्तृत्व बिना, केवल कामहेतुक, अर्थात् कार्य-कारणके नियमको अनुसरे बिना उत्पन्न हुवा असत्य अप्रतिष्ठित मानते हैं''** (भग.गीता १६।८). हकीकतमें तो प्रापंचिक वस्तुका यदि अस्तित्व ना हो तो सर्वव्यापि होनेकी बातकी भी संगति नहीं बैठेगी, और क्योंकि व्यापक होनेके लिए वस्तुका अस्तित्व माननेसे ब्रह्ममें

वस्तुकृत परिच्छेदकी आपत्ति आयेगी. वेद स्वयं ब्रह्मका निष्प्रपञ्च रूप कहकर स्वयं कहे हुए परमेश्वरके जगत्कर्तृत्वको स्वयं ही मना कैसे कर सकता है? इसी कारण अध्यारोप-अपवादकी शैली अपनाकर वेदान्तकी व्याख्या करनेवाले हकीकतमें तो वेदान्तका श्राद्ध ही कर देते हैं. क्योकि ऐसा करनेसे तो सभी वाक्योंका बाध हो जाता है. ब्रह्मका स्वरूप अथवा विग्रह सर्वथा दोषरहित और गुणपूर्ण जिस प्रकार होता है वह आगे सिद्ध किया जायेगा.

(तत्र अवान्तरशंकासमाधाने)

ननु * पुरुषार्थार्थानि शास्त्राणि, इदञ्च शास्त्रं मोक्षरूपपुरुषार्थसाधकं, मोक्षश्च अविद्यानिवृत्तिरूपः इति युक्तम्. अविद्याच अज्ञानं ज्ञानेनैव नश्यति. ततो ज्ञानोपयोगित्वेन व्याख्यातव्ये वेदान्ते अध्यारोपापवादव्यतिरेकेण व्याख्यानम् अयुक्तम्. अतो यथाकथञ्चिद् व्याख्यानेऽपि पुरुषार्थसिद्धेः न कोऽपि दोषः * इति चेद् न,

पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यमं न स्वबुद्धिपरिकल्पितम्. अतः स्वबुद्धया शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयन्तो महासाहसिकाः सद्भिः उपेक्ष्यया. पुरुषार्थः पुनः यथा वेदान्तेषु अवगतो "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड.उप.३।२।९) "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" (तैत्ति.उप.२।१) "न स पुनः आवर्तते" (छान्दो.उप.८।१५।१) "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (भग.गीता १८।५५) "अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्" (ब्र.सू.४।४।२२) इत्येवमादिभिः श्रुतिस्मृतिन्यायैः ब्रह्मप्राप्तेरेव पुरुषार्थत्वम्. ब्रह्मच पुनः न जीवस्य आत्ममात्रम्. अज्ञानवद् वा "एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव महामते! बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतरः" (भाग.पुरा.११।११।४) इति भगवता जीवस्यैव अविद्यावत्त्वप्रतिपादनात्.

तस्माद् न्यायोपबृंहित-सर्ववेदान्तप्रतिपादित-सर्वधर्मवद् ब्रह्म. तस्य श्रवण-मनन-निदिध्यासनैः अन्तरंगैः; शमदमादिभिः च बहिरंगैः, अतिशुद्धे चित्ते स्वयमेव आविर्भूतस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परमपुरुषार्थः.

(दूसरी गौण शंकाओंका समाधान)

अनुवाद : यहां यह शंका हो सकती है कि * शास्त्र तो पुरुषार्थका उपदेश करनेवाले हैं यह शास्त्र मोक्षरूपी पुरुषार्थोंका साधक है. अतः वह मोक्ष तो अविद्यानिवृत्तिरूप होनेसे, और अविद्या अज्ञानरूप होनेसे, केवल ज्ञानसे ही नाश पा सकती है. इसलिए वेदान्तोंकी व्याख्या ज्ञानोपयोगी हो वैसी करनी चाहिये. और वह अध्यारोपापवादकी युक्तिके बिना शक्य न होनेके कारण ब्रह्मको समवायी कारण रूपमें मानना, यह वेदान्तका अयुक्त व्याख्यान है. इसलिए जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान प्रकट हो सके वैसे वेदान्तका व्याख्यान करनेमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं होनी चाहिये. * पर यह युक्ति विसंगतिपूर्ण है.

क्योंकि पुरुषार्थ अथवा शास्त्रार्थ का स्वरूप केवल शास्त्रोंके आधार पर ही समझा जा सकता है, अपनी बुद्धिमें जो कल्पना घर कर गयी उसके आधारपर नहीं. इसलिए अपनी बुद्धिसे शास्त्रार्थकी परिकल्पना करके उसके अनुसार वेदोंका अर्थघटन करनेवाले तो महासाहसिक होनेके कारण सत्पुरुषोंके लिए तो उपेक्षणीय ही होते हैं. पुरुषार्थ तो जैसे वेदान्तोंमें प्रतिपादित हुआ हो उसके अनुसार स्वीकारनेमें आये तभी **''ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही बन जाता है''** (मुण्ड.उप.३।२।९), **''ब्रह्मको जाननेवाला परम तत्त्वको पाता है''** (तैत्ति.उप.२।१), **''वह ब्रह्मको जाननेवाला फिरसे इस संसारचक्रमें नहीं फंसता''** (छान्दो.उप.८।१५।१), **''उसके बाद मुझे तत्त्वतः जान लेनेके बाद वह मेरे भीतर प्रवेश पाता है''** (भग.गीता १८।५५), **''श्रुतिके शब्दोंके आधारपर वह मुक्तात्माका कभी भी जन्म-मरणके चक्रमें आवर्तन नहीं होता''** (ब्र.सू.४।४।२२) ऐसे श्रुति-स्मृति-सूत्रों के वचनोंके आधारपर

ब्रह्मप्राप्ति ही पुरुषार्थ है और वह ब्रह्म कोई अज्ञानी अथवा जीवात्मा मात्र नहीं है. **''उस परमात्माको पहचान न पाये ऐसी अविद्याके कारण ब्रह्मकी अंशरूप केवल जीवात्माको ही अनादि बन्धनमें बंधना पड़ता है. उसी प्रकार उस परमात्माको जान पाये ऐसी विद्याके कारण वैसे बंधनोंसे छुटकारा भी मिलता है''** (भाग.पुरा.११।११।४). इस वचनमें भगवान्ने जीवको ही अविद्यावान् माना है. इसलिए ब्रह्मसूत्रोंसे समर्थित ऐसे वेदान्तोंमें प्रतिपादित सभी गुणधर्म ब्रह्ममें ही सहज होते हैं. उस ब्रह्मके बारेमें उपनिषदादि शास्त्रोंके वचनोंका श्रवण मनन अथवा निदिध्यासन रूपी अन्तरंग साधनोंके द्वारा और शम दम आदि बहिरंग साधनोंके द्वारा चित्त जब पूर्णरूपसे शुद्ध हो जाये तब वैसे सायुज्यको परमपुरुषार्थ माननेमें आता है.

इसलिए सारे वेदान्त जो भी कुछ प्रतिपादित करते हैं उस बारेमें उनका प्रामाण्य युक्त ही है. इस प्रकार इन ब्रह्मसूत्रोंको कहनेके कारण ब्रह्मका समवायी कारण होना इन समन्वय सूत्रोंका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय सिद्ध होता है.

(समन्वयाधिकरणसंगतिः)

तस्मात् सर्वे वेदान्ताः स्वार्थएव युक्तार्थाः इति न्यायैः वक्तव्यत्वाद् ब्रह्मणः समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यम्.

(समन्वय अधिकरणकी संगति)

अनुवाद : इसलिए इस सूत्रमें तो ब्रह्म समवायी कारण है अथवा नहीं उस बारेमें ही विचार ही अधिक प्रासंगिक लगता है.

[३]प्रकृत्यधिकरणम्

(प्रकृतिश्चेत्यधिकरणविषयः)

एवं प्रकृतिकारणवादनिराकरणेन ब्रह्मणएव कारणत्वे सिद्धेऽपि अर्धजरतीयतया उभयस्थापनपक्षं परिहर्तुम् अधिकरणम् आरभते :

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥१।४।२३॥

(प्रकृतिश्चेत्यधिकरणगत विषय और संशय)

अनुवाद : त्रिगुणात्मिका प्रकृति इस सृष्टिका मूल कारण नहीं बन सकती, ब्रह्म ही कारण हो सकता है, यह तो सिद्ध हो गया तो भी प्रकृति और ब्रह्म दोनोंको 'अर्धजरतीय' न्यायसे कारण मान लेनेवाले पक्षका प्रदर्शन करनेके लिए यह अधिकरण जोड़नेमें आया है.

(प्रकृतिश्चेत्यधिकरणपूर्वपक्षः)

ननु *ब्रह्मकारणतां न निराकुर्मः श्रुतिसिद्धत्वात् किन्तु समवायिकारणं प्रकृतिरेव, कार्यकारणयोः अवैलक्षण्यात्, समवायिकारणानुरोधि हि कार्यम्, अन्यत् सर्वं भगवान् अस्तु. अपेक्ष्यते च समवायि-निमित्तयोः भेदः. कर्मण्यपि श्रुतिस्मृतिसमवायो धर्मे. एवं ब्रह्मवादेऽपि स्मृत्युक्ता प्रकृतिः समवायिकारणं ब्रह्म निमित्तकारणम्* इत्येवं प्राप्ते उच्यते :

(प्रकृतिश्चेत्यधिकरणगत पूर्वपक्ष)

अनुवाद : *श्रुतिसिद्ध होनेके कारण ब्रह्मका कारण होना तो इन्कारा नहीं जा सकता परन्तु समवायी कारण तो जड़ प्रकृतिको मानना ही योग्य है. क्योंकि कार्यरूपा सृष्टिकी तरह कारणरूपा प्रकृति भी

जड़ ही है. क्योंकि कार्य-कारण एक-दूसरेसे विलक्षण नहीं होने चाहिये. इसलिए इस सृष्टिमें जो जड़ कार्य हो उसका कारण जड़ प्रकृतिको मानना चाहिये. बाकी सारा चाहे ब्रह्मात्मक होनेसे ब्रह्मकार्यरूप हो, क्योंकि कार्य हमेशा कारणके स्वरूपके अनुसार होता है. तदुपरांत समवायी कारण और निमित्त कारण के बीच रहे हुए अंतरको भी मान्य रखना आवश्यक है. इसलिए जैसे कर्मके बारेमें श्रुति और स्मृति दोनोंके आधार पर धर्मनिर्णय होता है वैसे ही ब्रह्मवादमें भी स्मृति द्वारा प्रतिपादित त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृतिको समवायी कारण और श्रुति द्वारा प्रतिपादित सच्चिदानन्द ब्रह्मको निमित्त कारण माना जा सकता है.* ऐसे पूर्वपक्षका उत्तर देनेके लिए यह प्रकृतिश्च....सूत्र कहनेमें आया है:

(प्रकृतिश्चेत्यधिकरणसिद्धान्तः)

प्रकृतिः च (इति), निमित्तकारणं समवायिकारणं च ब्रह्मैव, 'प्रकृति'पदप्रयोगात् स्मृतिसिद्धतृतीयसर्वधर्मापदेशः चकाराद् ''यत्र...'' (भाग.पुरा.१०।८५(=८२)।४)इत्यादिसर्वसंग्रह.

कुतः एतत्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्, प्रतिज्ञा, अपिवा ''तम् आदेशम् अप्राक्षो/अप्राक्ष्यो येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातं भवति'' (छान्दो.उप.६।१।२-३) इति. दृष्टान्तो यथा ''एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्'' (छान्दो.उप.६।१।४) इत्यादि. प्रतिज्ञा-दृष्टान्तयोः अनुपरोधो अबाधनं तस्मात्.

समवायिकारणज्ञाने हि कार्यज्ञानम्. उभयोः ग्रहणम् उपचारव्यावृत्त्यर्थम् उपक्रमोपसंहारवत्, प्रतिज्ञामात्रत्वे अदृष्टद्वारापि भवेद् दृष्टान्तमात्रत्वेतु अनुमानविधया स्यात्. तथा सति सर्वसमानधर्मवद् ब्रह्म स्याद् न समवायिकारणम्. उभयोः ग्रहणेतु प्रतिज्ञायाः दृष्टमेव द्वारमिति समवायित्वसिद्धिः. कार्यकारणयोः भेदाभेदमतनिराकरणाय

पिण्डमणि-नखनिकृन्तन-ग्रहणम्. तथा सति यत्र क्वचिद् भगवान् ज्ञातः सर्वत्र ज्ञातो भवति सर्वं च ज्ञातं भवतीति.

(प्रकृतिश्चेत्यधिकरणगत सिद्धान्त)

अनुवाद : ब्रह्मको निमित्त कारण भी और समवायी कारण भी मानना चाहिये. यहां 'प्रकृति' पदका जो प्रयोग करनेमें आया उससे नैयायिकोंकी स्मृतिमें स्वीकृत समवायी-असमवायी कारण और उसमें भी तृतीय निमित्त कारण ऐसे सभी प्रकारके कारणोंके जो कुछ भी धर्म हों उनका भी संकलन यहां ब्रह्ममें स्वीकार लेना चाहिये. उसके अलावा भी जो जिन कारणोंका स्वरूप अथवा गुणधर्म हों उन सभीका संकलन 'प्रकृति' पदके साथ जुड़े हुए 'च' पदसे द्योतित हुवा है जैसे **''जहां, जिस साधनसे, जिसमेंसे, जिसका, जिसकेलिए, जिसको, जिस प्रकार, जब भी जो कुछ हो रहा है वह स्वयं भगवान् ही है. उसके बाद फिर चाहे प्रकृति=प्रधान हो, पुरुष हो अथवा ईश्वर हो''** (भाग.पुरा.१०।८५(=८२)।४) इस वचनमें निर्दिष्ट कारकोंके सभी प्रकारोंको ब्रह्मरूप ही जानो.

ऐसा क्यों ? इस प्रश्नका समाधान देते हैं **''प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्''** हेतुके द्वारा. 'प्रतिज्ञा' जो श्रुतिवचनमें मिलती है वह यह है **''इस बारेमें तुमने कुछ पूछा कि नहीं कि जिसके कारण ना सुनी हुयी बात सुनी हुयीसी लगने लगती हो, जिसका पता ही ना हो वह भी पता चल जाये, अच्छी प्रकारसे ना जाना हुआ भी ठीकसे जाना जा सके''** (छान्दो.उप.६।१।२-४). वेसै दृष्टान्त भी **''जैसे एक मिट्टीको जानने पर सारी मिट्टीकी वस्तुएं जानी जा सकती है''** (छान्दो.उप.६।१।४) इस प्रतिज्ञा और दृष्टान्तका अनुपरोध माने अबाधन, इससे तो समवायी कारणके ज्ञानद्वारा कार्यके ज्ञान होनेका दृष्टांत, ब्रह्मको भी समवायी कारण सिद्ध करता है. किसी भी ग्रंथके उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें प्रतिज्ञात बातको जैसे छोड़ा नहीं जा सकता वैसे ही प्रतिज्ञा और

दृष्टान्त दोनोंको ग्रहण करनेमें आया होनेसे इसको अलंकारिक भाषामें नहीं खपाया जा सकता. यदि केवल प्रतिज्ञाका उल्लेख करनेमें आया होता तो अदृष्ट कारणोंके द्वारा भी वह शक्य बन सकता था. और केवल दृष्टान्त ही देना होता तो अनुमान आदि द्वारा भी वह शक्य माना जा सकता था. यदि ऐसा होता तो ब्रह्मको सृष्टिके सर्व नाम-रूप-कर्मसे समान धर्मोंवाला माना नहीं होता. तो ब्रह्म समवायी कारण भी सिद्ध नहीं होगा. पर दोनोंको ग्रहण करनेमें आता होनेसे प्रतिज्ञा भी अदृष्ट प्रकारसे नहीं परन्तु दृष्ट तथ्यको दरसाती है.

एक समवायी कारणके ज्ञानसे उसके सभी कार्योंका ज्ञान होनेके विधानके कारण ब्रह्मका समवायी कारण होना दृष्टरीतिसे सिद्ध हो जाता है. कार्य और कारण के बीच भेदाभेद माननेवाले मतके निराकरणके लिए लोहे और कील का उदाहरण दिया गया है. तो कार्यरूपेण अथवा कारणरूपेण किसी भी एक उदाहरणमें ब्रह्मको ठीकसे कोई पहचान जायें तो सभी स्थानोंपर ब्रह्मका पहचान कर अनुभव हो सकता है.

सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिराकरणाय च ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति. अलीकत्वनिराकरणाय च 'मृत्तिका'' इत्येव सत्यम्'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति, ब्रह्मत्वेनैव जगतः सत्यत्वं न अन्यथा इति. सामान्यलक्षणप्रत्यासत्तिनिराकरणञ्च स्पष्टमेव अग्रे ''त्रीणि रूपाणि'' (छान्दो.उप.६।४।१) इत्यत्र करिष्यति. अतो ब्रह्मरूपेण सत्यस्य जगतो ब्रह्मैव समवायिकारणम्. देहात्मबुद्धिस्तु सत्यां विकारबुद्धौ दोषः. श्रुतिसामर्थ्यं प्रमाणम् इति उक्तम् तस्माद् ब्रह्मैव समवायिकारणं, न प्रकृतिः.

अनुवाद : न्यायमतके अनुसार किसी एक घड़ेको देख लेनेपर उस घड़ेके समान अन्य सभी घड़ोंका ज्ञान सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा हो जाता है. ऐसी संभावनाके निरसनके लिए श्रुतिवचनमें ''**मिट्टीसे**

गढ़े हुए घड़ेको, मिट्टी ना मानकर, मिट्टीका 'विकार' कहना केवल वाचारम्भण (वाणीविलास) है'' (छान्दो.उप.६।१।४) ऐसे कहा गया है. ऐसा कहनेसे कोई घड़ेको मिथ्या ना मान ले इससे **''मिट्टीके रूपमें ही वह सत्य है''** (छान्दो.उप.६।१।४) ऐसा भी कह रखा है. क्योंकि जगत्का भी सत्य होना किसी दूसरी प्रकारसे नहीं, पर ब्रह्मात्मक होनेकी दृष्टिसे ही है. सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिकी सम्भावनाका निरसन तो आगे जाकर सुस्पष्ट शब्दोंमें **''तीनों रूप ही सत्य हैं''** (छान्दो.उप.६।४।१) इस विधानमें करनेमें आया है. तो यदि जगत् ब्रह्मरूपमें सत्य हो तो ब्रह्मको ही जगत्का समवायी कारण मान लेना चाहिये. देहको आत्माके रूपमें स्वीकारना जो भ्रान्ति मानी जाती है, वह तो देहमें विकारबुद्धि रखनेवालोंके सन्दर्भमें कही गयी बात है, ना कि सर्वत्र ब्रह्मबुद्धि रखनेवालोंके लिए. इसलिए प्रतिज्ञा और दृष्टान्त द्वारा श्रुति ही ब्रह्मको समवायी कारणके रूपमें सिद्ध करनेका समर्थ प्रमाण है. इसलिए ब्रह्मही समवायी कारण हो सकता है जड़ प्रकृति नहीं.

लिंगान्तरम् आह :

अभिध्योपदेशात् च ॥१।४।२४॥

''सो अकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति'' (तैत्ति.उप.२।१) इत्यत्र कामनं तस्य अभिधानम्. आप्तकामत्वाद् न कामना. तदभिध्यानं सृष्टौ उपदिश्यते ''बहु स्याम्'' इति स्वस्यैव बहुरूपत्वाभिध्यानेन सृष्टं स्वयमेव भवति. सुवर्णस्य अनेकरूपत्वं सुवर्णप्रकृतिकत्वएव अध्यासाभावाद् गौणत्वापत्तेः च. नहि मुख्यं बहुभवनं योगिनां सम्भवति. सर्वभवनसामर्थ्याद् मुख्ये संभवति गौणकल्पनायाः अन्याय्यत्वात्. च कारात्, ''इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'' (बृह.उप.२।४।६) इति कार्यस्य ब्रह्मत्वश्रुतिः ब्रह्मप्रकृतित्वे संभवति न अन्यथा.

अनुवाद : इसके लिए दूसरा हेतु भी देते हैं :

''उस ब्रह्मने बहुत सारे रूपोंमें प्रकट होनेकी कामना की'' (तैत्ति.उप.२।६) इस श्रुतिवचनमें जो कामनाकी बात कहनेमें आयी उसकी व्याख्या सूत्रकार 'अभिध्या' पदद्वारा करते हैं कि उस परमात्माने अभिध्यान किया. परमात्मा क्योंकि आप्तकाम होता है सो उसमें अपनेसे भिन्नकी कामना तो नहीं हो सकती. इसलिए ब्रह्मका सृष्टिके बारेमें जो अभिध्यान कहनेमें आया कि **''मैं बहुत सारे रूपोंमें प्रकट हो जाऊं''** इसके कारण अपने ही बहुत सारे रूपोंका उसने अभिध्यान किया और अपने-आपका ही सृजन किया. जो घड़ा सोनेसे गढ़ा न हो उसे सोनेका रूप नहीं माना जा सकता. तदुपरांत ब्रह्मको भ्रम अथवा अध्यास तो हो नहीं सकता. यदि ऐसा होता हो तो सृष्टिकी प्रमुख कर्त्री माया सिद्ध होगी और ब्रह्म उस मायाके कारण गौण कर्ता बन जायेगा. योगी जन भी योगशक्ति द्वारा अनेक रूप धारण करके दिखा सकते हैं. पर उनका अनेक रूप धारण करना स्वाभाविक अथवा अकृत्रिम प्रकार माना नहीं जा सकता. अर्थाद् ब्रह्ममें बहुत सारे रूपोंको धारण करनेकी प्रमुख अथवा अकृत्रिम सामर्थ्य जो स्वीकारी जा सकती हो तो किसलिए उस सामर्थ्यको गौण अथवा मायिक माना जाये? सूत्रमें **'च'** शब्दका प्रयोग किया गया है वह **''यह सब जो दिखलायी देता है वह आत्मा ही है''** (बृह.उप.२।४।६) इस श्रुतिमें दरसाये गये कार्यका ब्रह्म होना और कार्यरूपसे स्वयं ब्रह्म ही प्रकट हुआ हो तभी सम्भव है, और किसी प्रकारसे नहीं.

अथवा ''सर्वं खलु इदं ब्रह्म 'तज्जलान्' इति शान्तः उपासीत'' (छान्दो.उप.३।१४।२) इति तस्य जगद्रूपत्वेन अभिध्यानम् उपदिश्यते. तद् ब्रह्मसमवायित्वे घटतइति. चकारात् ''एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्'' (भग.गीता ९।१५) इति.

अनुवाद : अथवा **''यह सब कुछ जो दीखता है वह ब्रह्म ही**

है, ब्रह्ममेंसे जन्म लेनेवाला, उसीमें स्थित; और, उसीमें लीन होनेवाला है, ऐसे ब्रह्मकी उपासना शान्त होकर करने चाहिये'' (छान्दो.उप.३।१४।२) इस श्रुतिवचनमें वचनमें ब्रह्मकी जगत्के रूपमें उपासनाके उपदेशको भी **'अभिध्यान'** शब्दसे अभिप्रेत स्वीकारा जा सकता है. ऐसे उस ब्रह्मका ध्यान ब्रह्मको समवायी माननेके अलावा उपपन्न हो नहीं सकता. इस कल्पमें भी 'इत्यादि' अर्थका द्योतक **'च'** शब्द जो सूत्रकारने प्रयोग किया है, वह भगवद्गीताके **''एक होनेके रूपमें, पृथक होनेके रूपमें, बहुत प्रकारसे अथवा सभी प्रकारसे मेरी उपासना लोग करते हैं''** (भग.गीता ९।१५) इस वचनको अनुलक्षित करके है.

लिंगम् उक्त्वा श्रुतिमेव प्रमाणम् आह :

साक्षात् च उभयाम्नानात् ॥१।४।२५॥

साक्षात् श्रुत्यैव समवायित्वम् उच्यते. चकारात् स्मृत्यापि. कथं श्रुत्या उच्यते तत्र आह उभयाम्नानात्. ब्रह्मणः सकाशाद् ब्रह्मण्येव च सृष्टिप्रलययोः आम्नानात्. ''सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रति अस्तं यन्ति'' (छान्दो.उप.१।९।१) इति ''अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा'' (भग.गीता ७।६) इति च. नहि एतस्मिन् निमित्तत्वे संभवति सुवर्णादिषु तथा उपलब्धेः. लोकवेदन्यायेन साक्षात्त्वम्, तस्माद् भगवानेव समवायिकारणम्.

अनुवाद : ब्रह्म समवायी है उसके हेतुका निर्देश करनेके बाद अब साक्षात् श्रुतिवचन ही प्रमाणके रूपमें सूत्रकार उद्धृत करते हैं :

साक्षाद् अर्थात् स्वयं श्रुतिमें ही ब्रह्मका समवायी कारण होना बताया गया है. सूत्रकारने जो **'च'** शब्दका प्रयोग किया है उससे स्मृतिमें भी ब्रह्मका समवायी कारण होना बतानेमें आया है, यह

सूचित करनेके लिए है. श्रुति-स्मृति दोनोंमें ब्रह्मको समवायी कारण साक्षाद् दिखलानेमें आया है. क्योंकि 'उभय' अर्थाद् ब्रह्ममेंसे सृष्टि और ब्रह्ममें ही उसे लीन होती कही गयी है. इसलिए वह वचन इस प्रकार हैं : **''ये सभी भूत ब्रह्मरूपी आकाशमेंसे समुत्पन्न हुए हैं और इसीलिए आकाशमें ही लीन होनेवाले हैं''** (छान्दो.उप.१।९।१) इति. **''मैं समग्र जगत्की उत्पत्ति और लय का स्थान हूं.''** (भग.गीता ७।६). ब्रह्म यदि केवल निमित्त कारण हो तो उसमें कार्य फिरसे लीन हो ही नहीं सकता. जैसे कि सोनेसे बनाये गये हुए आभूषणको फिरसे सोनेमें रूपान्तरित किया जा सकता है. इस प्रकार लोक और वेद दोनोंके आधारपर ब्रह्मका साक्षात् समवायी होना सिद्ध होता है. इस प्रकार भगवान् स्वयं समवायी कारण बनते हैं, यह सिद्ध हुआ.

(तत्र अवान्तरशंकासमाधाने)

***ननु ''सएव सर्वं सृजति सएव अवति हन्ति च'' (महाभा.४।११।२५) इति कर्तृत्वप्रतीतेः आकाशादिवाक्यमपि औपचारिकं भविष्यति* इति तन्निराकरणाय आह :**

आत्मकृतेः परिणामात्॥१।४।२६॥

(अन्य एक शंका तथा समाधान)

अनुवाद : यहां ऐसी शंका हो सकती है कि *''उसने इन सारी वस्तुओंका निर्माण किया, वही पालन करता है और अंतमें वही सब वस्तुओंका संहरण भी करता है'' (महाभा.४।११।२५) इस वचनके आधारपर उसके कर्ता होना ही सिद्ध होता है. इससे ऊपर कहे आकाश आदि रूपमें ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वचन भी मुख्य अर्थमें ना लेकर गौण अर्थमें लेना घट रहा है,* ऐसी शंकाके निराकरणके लिए अग्रिम सूत्र कहते हैं :

आत्मकृतेः ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७) इति स्वस्यैव कर्मकर्तृभावात् सुकृतत्ववचनात् च अलौकिकत्वम्. तथापि ज्ञानार्थम् उपपत्तिम् आह **परिणामात्** परिणमते कार्याकारेणेति अविकृतमेव परिणमते सुवर्णं सर्वाणि च तैजसानि. वृद्धेश्च अलौकिकत्वाद् ब्रह्मकारणत्वएव घटते पूर्वावस्थान्यथाभावस्तु कार्यश्रुत्यनुरोधाद् अंगीकर्तव्यः. वक्ष्यति च ''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्'' (ब्र.सू.२।१।२७) इति. अन्यानि च युक्तिदूषणानि परिहरिष्यति. तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मणएव इति सिद्धम्.

अनुवाद : ''यहां जो कुछ भी है वैसा रूप उसने स्वयं अपना बनाया है'' (तैत्ति.उप.२।७) इस वचनमें बनानेवाला और बननेवाला एक ही होनेसे; और, इस प्रकारको 'सुकृत' कहे जानेके कारण भी आत्मसृजन अलौकिक सिद्ध होता है. सरलतासे अपनी बात समझानेको उपपत्तिके रूपमें कहते हैं **'परिणामात्'** सोने अथवा ऐसे ही दूसरे तैजस पदार्थ अपने मूलरूपके त्यागके बिना अर्थात् विकृत हुए बिना, कार्योंके रूपमें परिणित होते हुए दिखलायी देते हैं. वृद्धि तो अलौकिक है. यदि ब्रह्मको कारण ना माने तो उपपन्न ही नहीं होगी. अलबत्ता कार्य प्रतिपादिका श्रुतिके आधारपर पूर्वावस्थासे भिन्न कोई भी अवस्था तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी. यह बात भी स्वयं सूत्रकार आगे ''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्'' (ब्र.सू.२।१।२७) सूत्रमें कहेंगे. उसमें भी इस सिद्धान्तमें स्फुरित होते दूसरे दूषणोंका परिहार भी करना ही है. इसलिए यह जगद्रूप कार्य ब्रह्मका परिणाम होनेसे ब्रह्म जगत्का समवायी कारण है, यह सिद्ध होता है.

चेतनेषु किञ्चिद् आशंक्य परिहरति :

योनिश्च हि गीयते॥१।४।२७॥

(द्वितीयावान्तरशंकासमाधाने)

ननु * अस्तु जडानां ब्रह्मैककारणत्वं, चेतनेषुतु योनि-बीजयोः समवायित्वदर्शनात् पुरुषत्वाद् भगवतो योनिरूपा प्रकृतिः समवायिकारणं भवतु. शुक्र-शोणितसमवेतत्वात् शरीरस्य * इति आशंक्य परिहरति **योनिश्च** ब्रह्मैव. शाक्तवादनिराकरणाय **च** कारः. तत्र युक्ति-श्रुती प्रमाणयति हि गीयते इति. युक्तिः तावत् ''सदेव सौम्यम्! इदम् अग्रे आसीद् एकमेव अद्वितीयम्'' (छान्दो.उप.१।९।१) इति पूर्वम् एकमेव प्रतिज्ञातम्. ''आकाशादेव'' (छान्दो.उप.१।९।१), ''आनन्दाद्ध्येव'' (तैत्ति.उप.३।६) इत्यादि 'एव'कारैश्च अनन्यकारणत्वं जगतो अवगम्यते, इतरापेक्षायां द्वैतापत्तेः. गीयते च ''कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्'' (मुण्ड.उप.३।१।३) ''यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'' (मुण्ड.उप.१।१।६) इति च. ''मम योनिर् महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधामि अहम्'' (भग.गीता १४।३) इति ''तासां ब्रह्म महद् योनिर् अहं बीजप्रदः पिता'' (भग.गीता १४।४) इति च अक्षरपुरुषोत्तभावेन तथात्वम्. तस्माद् योनिरपि भगवान् पुरुषोऽपि सर्वं वीर्यं जीवः च सर्वं भगवान् इति. ''इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा'' (बृह.उप.२।४।६) इति सिद्धम्. तस्मात् केनापि अंशेन प्रकृतिप्रवेशो नास्तीति अशब्दत्वं सांख्यमतस्य सिद्धम्.

(द्वितीय अवान्तरशंका और समाधान)

अनुवाद : चेतन-शक्तिके बारेमें एक शंका ऐसी खड़ी होती है कि जड़वस्तुओंका कारण भले केवल ब्रह्म ही हो पर सचेतन जीवोंका उदाहरणमें तो डिंबकोष(Ovum) और बीज(sperm) एक-दूसरेके सहकारसे समवायी कारण बनता है. इसलिए पुरुष होनेके कारण भगवान्को बीजरूप और जड़ प्रकृतिको डिंबरूप समवायी कारण मानना उचित है. सचेतन प्राणीका शरीर तो शुक्र-शोणितमें समवेत होता है, ऐसी शंकाका समाधान देते हैं :

योनिश्च अर्थात् डिंबरूप भी ब्रह्म स्वयं ही बनता है. शाक्तवादके

निराकरणके लिए सूत्रकारने 'च' शब्द प्रयोग किया है. इस बारेमें युक्ति और श्रुति दोनों हैं, यह दिखानेके लिए **हि गीयते** शब्दप्रयोग किया है. वह युक्ति तो **''पहले भी यह दिखलायी देता हुआ सत् ही था एकमेव अद्वितीय''** (छान्दो.उप.६।२।१) ऐसे पहले एक होनेकी प्रतिज्ञा करी. साथ-ही-साथ **''यह आकाशस्वरूप ब्रह्मसे सारा उत्पन्न हुआ''** (छान्दो.उप.१।९।१), **''केवल आनन्दसे ही यह सारा भूत-भौतिक उसमें भी सजीव-निर्जीव तत्त्वोंका जन्म हुआ.''** (तैत्ति.उप.३।६) इन वचनोंमें जो **'एव'**कारका प्रयोग किया है, उससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मके अलावा दूसरा कोई जगत्का कारण नहीं है और अकेला ब्रह्म ही कारण है, क्योंकि दूसरे किसीकी उसको अपेक्षा हो तो द्वैतापत्ति आयेगी. **गीयते** अर्थात् **''जब ब्रह्मरूप योनिको कर्ता ईश और पुरुषके रूपमें देखता है''** (मुण्ड.उप.३।१।३), **''धीर पुरुष जब उन भूतोंकी योनिका परिदर्शन करता है''** (मुण्ड.उप.१।१।६), उसके अलावा **''मेरी योनि महद् ब्रह्म है, उसमें गर्भाधान करता हूं''** (भग.गीता १४।३), **''उनकी योनि महद् ब्रह्म है और मैं बीजप्रदान करनेवाला पिता हूं''** (भग.गीता १४।४) ऐसे अक्षर और पुरुषोत्तमके अलग-अलग पहलुओंमें वह एक ही पुरुषरूप ब्रह्म अथवा भगवान् योनि भी बनते है और वीर्याधानकर्ता भी. इसके कारण जन्म लेनेवाला जीव आदि सब कुछ वही बनता है. क्योंकि **''यह सब कुछ जो दिखलायी दे रहा है वह आत्मा ही है.''** (बृह.उप.२।४।६) यह सिद्ध होता है. तो किसी भी अंशमें जड़ प्रकृतिका प्रवेश नहीं होता. इसलिए जड़ प्रकृतिको सृष्टिकर्त्री माननेवाला सांख्यमत श्रुतिके शब्दोंके विचारसे सिद्ध नहीं होता है.

॥ द्वितीयाध्यायके अधिकरण ॥

(प्रमेयस्वरूपविवेचनपरक)

[१]तदनन्यत्वाधिकरणम्

(तदनन्यत्वाधिकरणविषयः)

श्रुतिविरोधं परिहरति :

तदनन्यत्वम् 'आरम्भण'शब्दादिभ्यः ॥२।१।१४॥

(तदनन्यत्व अधिकरणका विषय)

अनुवाद : कार्य-कारणके बीच जो तादात्म्य स्वीकारा गया वह निरूपण श्रुतिविरुद्ध नहीं है, यह बताना इस अधिकरणका विषय है.

(तदनन्यत्वाधिकरणसंशय-पूर्वपक्षौ)

''वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्'' (छान्दो.उप.६।१।४) इति. तत्र विकारो वाङ्मात्रेणैव आरभ्यते, न वस्तुतः इति अर्थः प्रतिभाति. तथाच सति कस्य ब्रह्म कारणं भवेत् ? अतः श्रुतिवाक्यस्य अर्थम् आह :

(तदनन्यत्व अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष)

अनुवाद : **''मृत्तिकाके उपादेय कार्यको 'मृत्तिका' न कह कर 'मृत्तिकाका विकार' कहना तो वाचारम्भण=वाणीविलास है. क्योंकि सच्चा नाम तो उसका 'मृत्तिका' ही है''** (छान्दो.उप.६।१।४) इस वचनमें मिट्टीका विकार वाणीविलास मात्र ही है तात्त्विक वस्तु नहीं, ऐसा अर्थ भासित होता है. पर सचमें यदि अर्थ ऐसा हो तो ब्रह्मको किसका कारण

मानना चाहिये? इसलिए श्रुतिवाक्यका अर्थ कहते हैं :

(तदनन्यत्वाधिकरणसिद्धान्तपक्षः)

'आरम्भण' शब्दादिभ्यः तदनन्यत्वं प्रतीयते. कार्यस्य कारणानन्यत्वं न मिथ्यात्वम्... अलौकिके प्रमेये सूत्रानुसारेणैव निर्णयः उचितः. न स्वतन्त्रतया किञ्चित् परिकल्पनं "तर्काप्रतिष्ठानाद्" (ब्र.सू.२।१।११) इति निराकृतमेव, नवा अस्मिन्नपि सूत्रे मिथ्यात्वार्थः सम्भवति. एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमबाधात् प्रकरणविरोधः च. त्रयाविरोधभयपरित्यागेन एकम् इदं सूत्रम् अन्यथा योजयन् अतिधृष्टइति अलं विस्तरेण.

(तदनन्यत्व अधिकरणगत सिद्धान्त)

अनुवाद : **'आरम्भण'** आदि शब्दोंके प्रयोगवश यह सिद्ध होता है कि कार्य कारणसे भिन्न नहीं होता है. उपादेय कार्य अपने उपादान कारणसे अनन्य होता है उसकी तुलनामें मिथ्या नहीं... इस कारण ब्रह्म और उसके कार्य के रूपमें प्रतिपादित जड़-जीवसृष्टि मिथ्या नहीं हो सकती है. अलौकिक प्रमेयके बारेमें निर्णय सूत्रके अनुसार ही करना उचित है, स्वतंत्र परिकल्पनाओंके आधारपर नहीं. क्योंकि ऐसी विचारीतिका निरसन तो **"तर्काप्रतिष्ठानाद्"** (ब्र.सू.२।१।११) सूत्रमें ही कर दिया गया है. श्रुतिकी तरह इस सूत्रमें भी **'आरम्भण'** आदि शब्दोंका अभिप्राय ब्रह्मके कार्यरूप जगत्को मिथ्या मानना नहीं है. एक कारणरूप पदार्थके ज्ञानसे उसके सभी कार्यरूपोंका ज्ञान हो जानेका विधान जो प्रकरणके आरंभमें हुआ उससे ऐसा मानना विरुद्ध हो जायेगा. अतः ऐसी व्याख्या प्रकरणविरुद्ध भी कहलायेगी. इस कारण विषयवाक्यरूप श्रुतिवचन, उसका उपक्रम और प्रकरण यों तीनोंसे विरुद्ध इस सूत्रका अर्थ करना तो वैचारिक अतिधृष्टता लगती है, अतः इस बारेमें विस्तारकी अपेक्षा नहीं है.

भावे च उपलब्धेः ॥२।१।१५॥

भावेएव विद्यमानएव घटे घटोपलब्धिः न अभावे. चकारात् ''मृत्तिका' इत्येव'' (छान्दो.उप.६।१।४) श्रुतिः परिगृहीता. वाङ्मात्रेण च उपलम्भे ''मिथ्यैव अत्र घटोऽपि अस्ति'' इति उक्ते उपलभ्येत. इदं सूत्रं मिथ्यावादिना न ज्ञातमेव, अतएव पाठान्तरकल्पनम्.

अनुवाद : घड़ा हो अर्थात् विद्यमान हो तो ही घड़ा उपलब्ध होता है, नहीं है तो उपलब्ध नहीं होता. सूत्रमें 'च'पदका प्रयोग हुआ होनेसे **''मृत्तिका' ये ही इसका सच्चा नाम है''** (छान्दो.उप.६।१।४) श्रुतिका परिग्रहण किया गया है. यदि घड़ा आदि कार्य केवल वाणीविलास होनेपर भी उपलब्ध होते हों तो ''यहां एक मिथ्या घड़ा है'' ऐसा कोई कहे तो घड़ा यहां मिलना चाहिये. मिथ्यावादका प्रतिपादन करनेवालोंको इस सूत्रका अभिप्राय समझ ही न आनेके कारण उन्हें पाठान्तरकी कल्पना करनी पड़ी है.

सत्त्वात् च अवरस्य॥२।१।१६॥

अवरस्य प्रपञ्चस्य सत्त्वात् त्रैकालिकत्वात् ब्रह्मत्वं ''सदेव, सौम्य!, इदम् अग्र आसीत्'' (छान्दो.उप.६।२।१) ''यद् इदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते'' (तैत्ति.उप.२।६) इति श्रुतेः.

अनुवाद : **अवर** अर्थात् प्रपंचका भी **सत्त्व** अर्थात् त्रैकालिक सत्ता होनेसे वह ब्रह्मरूप है, क्योंकि **''यह दीखनेवाला जगत् पहले भी सत् ही था''** (छान्दो.उप.६।२।१) **''यह जो भी कुछ है उसे 'सत्य' कहा जाता है''** (तैत्ति.उप.२।६) ऐसी श्रुतियोंके आधारपर.

[२]असद्व्यपदेशाधिकरणम्

(असद्व्यपदेशाधिकरणविषयः)

'असद्'व्यपदेशाद् न इति चेद् न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥२।१।१७॥

(असद्व्यपदेशाधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ)

''असद् वा इदम् अग्रे आसीद्'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुत्या प्राग् उत्पत्तेः कार्यस्य असत्त्वं बोध्यते इति चेत् -

(असद्व्यपदेश अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष)

अनुवाद : यदि यह शंका की जाये कि **''यह दिखलायी देता हुआ जगत् पहले असद् था''** (छान्दो.उप.६।२।१) इस श्रुतिवचनमें उत्पत्तिसे पहले कार्यकी असत्ता भी दिखलाई गयी है :

(असद्व्यपदेशाधिकरणसिद्धान्तः)

न. अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशतः. कुतः ? वाक्यशेषात् ''तद् आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७) इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वाद् ''इदं आसीत्'' पदप्रयोगात् च.

(असद्व्यपदेश अधिकरणगत सिद्धान्त)

अनुवाद : यह बात योग्य नहीं है, क्योंकि 'असत्'पदको अव्याकृत होनेके अर्थमें लेना उचित है, उसी प्रकारसे **व्यपदेश**=कहे जानेके कारण. यह बात **वाक्यशेष**(पूरक वाक्य) अर्थात् **''उसने स्वयंको सृष्टिरूप बनाया''** (तैत्ति.उप.२।७) इस श्रुतिवचनके आधारपर सिद्ध हो जाती है. स्वयंका कर्तापना और कार्यपना स्वयं अपने-आपको बनाये बिना शक्य नहीं है. नहीं तो **''यह दिखलायी देता जगत् पहले**

असद् था'' ऐसे कहना भी वदतोव्याघात होनेके कारण निरर्थक सिद्ध होगा.

युक्तेः शब्दान्तरात् च ॥२।१।१८॥

युक्तिः तावत् : समवेतमेव कार्यं सद् उत्पाद्यतइति सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वाद् नित्यत्वात् च कारणान्तरेणापि परम्परया सम्बन्धः. असम्बद्धोत्पत्तौतु मिथ्यात्वमेव. प्रवृत्तिस्तु अभिव्यक्त्यर्थम् इति. शब्दान्तरं 'सच्'छब्दाद् 'आत्म'शब्दः ''आत्मानं स्वयम् अकुरुत'' (तैत्ति.उप.२।७).

अनुवाद : युक्ति इस बारेमें ऐसी सोची जा सकती है कि कार्य जिस उपादानमें समवाय संबंधसे उत्पन्न होता है, वह उपादान स्वयं एवं कार्य दोनों यदि सत् ना हों तो कारणका कार्यात्मना उत्पन्न होना सिद्ध ही नहीं होगा, कार्य-कारणसंबंध हमेशा दोके बीच ही शक्य होनेसे और वह नित्य होनेसे. यह तो परंपरा [(A--B--C--)--E]से भी कोई कारण बनता हो तब भी अनिवार्य है. यदि कारणके साथ संबंध बांधे बिना कार्य उत्पन्न होता हो तो तब वह मिथ्या ही होता है. कार्य यदि सत् हो तभी उसे उत्पन्न करनेको कर्ताकी प्रवृत्ति होती है. **शब्दान्तर** अर्थात् 'सत्' और 'आत्मा' ऐसे दो शब्दोंके प्रयोगके कारण भी. वह 'आत्मा' शब्द **''उसने स्वयं=खुद आत्मा=अपना सृजन किया''** (तैत्ति.उप.२।७) इस श्रुति वचनमें है.

पटवत् च ॥२।१।१९॥

यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते, विस्तृतस्तु गृह्यते, तथा आविर्भावानाविर्भावेन जगतोऽपि.

अनुवाद : जिस प्रकार सिमटा हुआ पट संपूर्ण रूपसे व्यक्त नहीं

होता पर खुला हुआ पट पूरपूरा व्यक्त हो जाता है, उसी प्रकार जगत् भी आविर्भूत हो तो व्यक्तके रूपमें गृहीत होता है पर अनाविर्भूत गृहीत नहीं हो पाता.

यथाच प्राणादिः ॥२।१।२०॥

यथा प्राणापानानां नियमने जीवनमात्रम्, अनियमने आकुञ्चनादि, न एतावता प्राणभेदः, पूर्वम् असत्त्वं वा; तथा जगतोऽपि ज्ञानक्रियाभेदात् सूत्रद्वयम्.

अनुवाद : जिस प्रकार प्राणापान आदि वायुओंका नियमन करनेसे प्राणी केवल जीवित रहा पाता है और नियमन ना करनेमें आये तो अंग-प्रत्यंगोंकी सभी क्रियाऐं संपन्न की जा सकती हैं. अर्थात् नियमन अथवा अनियमन के कारण प्राण आदि वायुओंका भेद अथवा असत्ता नहीं मानी जा सकती. उसी प्रकार जगत्के बारेमें समझ लेना चाहिये. ज्ञान और क्रिया के भेदवश यहां भी दो सूत्रोंमें सिद्धान्त व्यवस्थित किया गया है.

[३]सर्वोपेताधिकरणम्

(सर्वोपेताधिकरणविषयादयः)

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥२।१।३०॥

सर्वशक्तिभिः उपेता उपगतः च कारात् सत्यादिगुणयुक्तः च. कुतः तद्दर्शनात् तथा वेदे दृश्यते : ''यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्ता सर्वकामः'' (छान्दो.उप.३।१४।२) इत्यादि.

(सर्वोपेता अधिकरणके विषयादि)

अनुवाद : **सर्व** अर्थात् सभी प्रकारकी शक्तियां उसमें **उपेता** उपगत

विद्यमान होनेसे. 'च' पदके प्रयोगके कारण अन्य भी सत्य शौच दया क्षान्ति आदि गुणोंसे युक्त भी वह होता है. क्योंकि **तद्दर्शनात्** अर्थात् वेद आदि शास्त्रोंके अनुसार ऐसा ही प्रतिपादित होनेसे: **''जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है, सर्वकर्ता है, सर्वकाम है''** (छान्दो.उप.३।१४।२) इत्यादि वचन इस बारेमें मिलते हैं.

(सर्वोपेताधिकरणपूर्वपक्षनिरसनम्)

विकरणत्वाद् न इति चेत् तद् उक्तम्॥२।१।३१॥

कर्ता इन्द्रियवान् लोके, ब्रह्मणो निरिन्द्रियत्वात् कथं कर्तृत्वम् इति चेद् न, अस्य परिहारः पूर्वमेव उक्तः, ''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्'' (ब्र.सू.२।१।२७) इत्यत्र. अनवगाह्यमाहात्म्ये श्रुतिरेव शरणं न अन्या वाचोयुक्तिः इति.

(सर्वोपेताधिकरणमें संशय पूर्वपक्ष और समाधान)

अनुवाद : यहां एक पूर्वपक्ष ऐसा हो सकता है कि लोकमें तो कर्ता इन्द्रियवान् ही होता है और ब्रह्म तो इन्द्रियरहित होनेके कारण कर्ता नहीं बन सकता? यह शंका अस्थानीय है क्योंकि ऐसी आशंकाका परिहार पहले ही दिखला दिया गया है **''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्''** (ब्र.सू.२।१।२७) सूत्रमें. जिसकी महिमाका कोई पार नहीं पा सकता हो, ऐसे ब्रह्मके बारेमें दूसरी कोई भी बात अथवा दलील करनेकी अपेक्षा श्रुतिकी ही शरणमें जाना योग्य है.

(सर्वोपेताधिकरणसंशयपूर्वपक्षान्तरम्)

न प्रयोजनवत्त्वात्॥२।१।३२॥

न ब्रह्म जगत्कारणम्. कुतः? प्रयोजनवत्त्वात् कार्यं हि

प्रयोजनवद् दृष्टं लोके. ब्रह्मणि पुनः प्रयोजनवत्त्वं संभावयितुमपि न शक्यते. ''आप्तकाम...'' (बृह.उप.४।३।२१) श्रुतिविरोधात्. व्यधिकरणो हेतुः नञ्समासो वा.

(सर्वोपेताधिकरणमें दूसरा पूर्वपक्ष)

न अर्थाद् ब्रह्मको जगत्कारण मानना युक्त नहीं है क्योंकि जो कोई भी कार्यरूपमें प्रकट होता है वह किसी न किसी प्रयोजनवाला होता है. लोकमें भी कोई कर्ता किसी प्रयोजनके बिना कोई कार्य नहीं करता. ब्रह्मको तो, परन्तु, आप्तकाम होनेके कारण जगद् उत्पन्न करनेके लिए किसी भी प्रयोजनके वश माना नहीं जा सकता. क्योंकि ऐसा मानना ''आप्तकाम...'' (बृह.उप.४।३।२१) इस श्रुतिवचनसे विरुद्ध जानेवाली बात होनेसे. यहां प्रयोजनवान् ब्रह्म हो नहीं सकता है और ब्रह्म प्रयोजनवान् हो नहीं सकता, ऐसा व्यधिकरणहेतु है. अथवा, नञ्समासकी प्रक्रियाके अनुसार 'नप्रयोजन'को एक शब्द भी माना जा सकता है.

(सर्वोपेताधिकरणसिद्धान्तः)

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्॥२।१।३३॥

'तु' शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. लोकवद् लीला नहि लीलायां किञ्चित् प्रयोजनम् अस्ति. लीलायाएव प्रयोजनत्वात्. ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या. सा लीला कैवल्यम् मोक्षः. तस्य लीलात्वेऽपि अन्यस्य तत्कीर्तने मोक्षः इति अर्थः. लीलैव केवला इति वा.

(सर्वोपेता अधिकरणमें सिद्धान्त)

अनुवाद : **'तु'** शब्दके प्रयोगद्वारा सूत्रकारको पूर्वपक्ष स्वीकार्य नहीं है ऐसा कहना चाहते हैं. लोककी तरह जगत्में भी लीलारूपमें की

जाती क्रियाओंमें जैसे प्रयोजन नहीं होता है, वैसे ही ब्रह्मकी यह लीला है. इसमें किसी भी प्रकारका प्रयोजन नहीं है. हकीकतमें तो लीला स्वयं ही प्रयोजन होती है. ईश्वर होनेके कारण उसकी लीलामें प्रश्न अथवा आक्षेप उठाया या लगाया नहीं जा सकता. उस लीलासे कैवल्य अर्थात मोक्ष सिद्ध होता है. इसलिए यह लीला है पर उसके संकीर्तनसे जीवात्माको मोक्ष मिलता है. अथवा सृष्टिका निर्माण परमेश्वरकी केवल लीला है ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये.

(तत्र अवान्तरशंकासमाधाने)

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ॥२।१।३४॥

कांश्चित् सुखिनः कांश्चिद् दुःखिनः च प्रलयं च कुर्वन् विषमो निघृणः च इति चेद् न सापेक्षत्वात्. जीवानां कर्मानुरोधेन सुखदुःखे प्रयच्छति इति. वादिबोधनाय एतद् उक्तं वस्तुतस्तु आत्मसृष्टेः वैषम्यनैर्घृण्यसम्भावनैव नास्ति. वृष्टिवद् भगवान् बीजवत् कर्म. श्रुतिरेव तथा दर्शयति ''एषहि एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषति. एष उएव असाधु कर्म कारयति तं यम् अधो निनीषति'' (कौषी.उप.३।८) ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन कर्मणा'' (बृह.उप.३।२।१३) इति च. सापेक्षमपि कुर्वन् ईश्वरइति माहात्म्यम्.

(सर्वोपेताधिकरणमें अवान्तर पूर्वपक्ष और समाधान)

अनुवाद : यदि यह सृष्टि परमेश्वरकी लीला हो तो किसीको सुखी और किसीको दुःखी उसमें भी प्रलय करनेवाले ब्रह्मको पक्षपाती और निर्दय मानना पड़ेगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये. उसका हेतु कहते हैं **न सापेक्षत्वात्.** जीवोंको उनके कर्मोंके अनुरूप भगवान् सुख अथवा दुःख देते हैं. यह तो प्रतिवादीको समझानेके लिए दिया

जाता विधान है. हकीकतमें तो आत्मसृष्टिमें पक्षपात अथवा निर्दयता की संभावना ही नहीं है. क्योंकि जिस जीवका जैसा कर्म होता है वह कर्म उन-उन जीवोंमें बीजकी तरह रहे हुए होते हैं और उनको भगवान् बरसातकी तरह खिलाकर फलदशा पर्यन्त पहुंचाते हैं. स्वयं श्रुति यह प्रतिपादन करती है कि **"वह ही स्वयं जिनका लोकसे उद्धार करना चाहता हो उनसे साधुकर्म करवाता है और वह ही जिनको नीचे धकेलना चाहता है उनसे असाधुकर्म करवाता है"** (कौषी.उप.३।८) **"पुरुषरूप कर्मोंके कारण जीव पुण्यशाली होता है और पाप कर्मोंके कारण पापी बनता है."** (बृह.उप.३।२।१३). जीवोंके उद्धार अथवा अनुद्धार के बारेमें उन जीवोंके कर्माकर्मकी अपेक्षा अपनी इच्छासे लीलारूपेण स्वीकारता है. ईश्वर होनेसे इसे उसका माहात्म्य ही जानना चाहिये.

(द्वितीयावान्तरशंकासमाधाने)

न कर्म विभागाद् इति चेद् न, अनादित्वात्॥२।१।३५॥

न कर्म विभागात्. कार्योद्गमनात् पूर्वं सम्भवति, पश्चात्तु अन्योन्याश्रयः इति चेद् न, अनादित्वाद् बीजांकुरवत् प्रवाहस्य अनादित्वात्.

(द्वितीय अवान्तर शंका-समाधान)

अनुवाद : **न कर्म विभागात्** अर्थात् जीवोंके उनके कर्मके अनुसार ईश्वर फल प्रदान करता है, वह कार्यके प्रादुर्भावसे पहले तो शक्य नहीं है और प्रादुर्भावके बाद जीवोंके किये हुए कर्मोंके कारण विषम सृष्टि प्रकट करनेका आरोप लगेगा. जीवोंमें रही हुयी विषमताके कारण विभिन्न प्रकारके कर्मोंके लिए प्रेरित करता है. इसमें तो अन्योन्याश्रय दोष खड़ा हो जाता है, ऐसी शंका योग्य नहीं है क्योंकि कर्मफल

और कर्मभोग की अन्योन्यबद्ध शृंखला बीज और अंकुर की तरह अनादि होनेसे सृष्टिका प्रवाह अनादि है.

(तत्रोपपत्त्यन्तरम्)

उपपद्यते चापि उपलभ्यते च ॥२।१।३६॥

कथम् अनादित्वम्? इति चेद् उपपद्यते. अन्यथा कस्य संसारः कृतहान्यकृताभ्यागमप्रसंगः च! उपलभ्यते च श्रुतिस्मृत्योः "अनेन जीवेन आत्मना" (छान्दो.उप.६।३।२) इति सर्गादौ 'जीव'प्रयोगाद् अनादित्वं, "तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वम् इदं भवान्" (भाग.पुरा.३।१२।१८) इति च.

(इस बारेमें अन्य उपपत्ति)

अनुवाद : यह कर्म और कर्मानुरूप सृष्टि का क्रम अनादि है, यह कैसे समझना? इसका समाधान देते हैं **'उपपद्यते'**=उपपन्न होनेके कारण. नहीं तो किसे संसार और किसे नहीं, इस बारेमें कृत कर्मोंको अहेतु और अकृत कर्मोंको हेतु मान लेनेकी अव्यवस्था भी खड़ी हो जायेगी. तदुपरांत श्रुति और स्मृति में भी इस बारेमें खुलासा मिलता है जैसेकि **"इस जीवके भीतर मैं स्वयं प्रवेश करके..."** (छान्दो.उप.६।३।२) यहां सृष्टिके निर्माणसे पहले भी **'जीव'** पदका प्रयोग करनेमें आया होनेसे जीव अनादि है **"तपसे ही जैसे पहले सृष्टि प्रकट की वैसे इस विश्वका निर्माण करो"** (भाग.पुरा.३।१२।१८) ऐसा वचन भागवतमें भी मिलता है.

(सर्वोपेताधिकरणनिष्कर्षः)

उपसंहरति :

सर्वधर्मोपपत्तेः च ॥२।१।३७॥

वेदोक्ताः धर्माः सर्वे ब्रह्मणि उपपद्यन्ते सर्वसमर्थत्वाद् इति.

(सर्वोपेताधिकरणका निष्कर्ष)

अनुवाद : इस चर्चाके उपसंहारके रूपमें कहते हैं :
वेदोंमें प्रतिपादित सभी धर्म ब्रह्ममें स्वीकार्य और उपपन्न मानने चाहियें क्योंकि वह सर्वसमर्थ है इस कारण.

।।तृतीयाध्यायके अधिकरण।।
(साधनस्वरूपविवेचनपरक)

[१]प्रकाशाश्रयवद्वाधिकरणम्।।

प्रकाशाश्रयवद् वा तेजस्त्वात्।।३।२।२८।।

धर्मस्वरूपविचारेण पूर्वोक्तपक्षद्वयं स्थापयितुम् अधिकरणारम्भः.

अनुवाद : ब्रह्मके धर्मोंका स्वरूप समग्रतासे विचारनेसे पहले कहे हुए दोनों पक्षोंको स्थापित करनेके लिए यह अधिकरण प्रस्तुत हुवा है.

(प्रकाशाश्रयवद्वाधिकरणसंशय-पूर्वपक्षौ)

***ननु धर्माः नाम के, ब्रह्मणो भिन्नाः तत्कार्यरूपाः आहोस्विद् ब्रह्मैव? इति संशयः. तत्र लोके कार्यस्यैव पटरूपादेः तद्धर्मत्वात् समवेतत्वात् तन्नित्यतायां प्रमाणाभावात् स्वाभाविकत्वमात्रेण नित्यत्व-कल्पनायां गौरवापत्तेः ''एकमेव अद्वितीयम्'' (छान्दो.उप.६।२।१) इति श्रुतिविरोधात् च धर्माः प्रपञ्चवत् कार्याः. तथा सति ब्रह्म सर्वकल्पनारहितमेव सेत्स्यति* इत्येवं प्राप्ते,**

(प्रकाशाश्रयवद्वा अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष)

अनुवाद : यहां शंका होती है कि* ब्रह्मके गुणधर्मको ब्रह्मसे अलग समझें? या ब्रह्मसे उत्पन्न होनेवाले कार्यरूप समझें? अथवा साक्षाद् ब्रह्मरूप ही समझें? क्योंकि जगत्में जो कार्यरूप वस्तु होती है, उदाहरणतया, कपड़ा जो कि सूतका गुणधर्म जाना जाता है, सूतमें से ही उत्पन्न होनेके कारण, उसे नित्य मानना प्रामाणिक नहीं होता.

उसे यदि केवल स्वाभाविक होनेके कारण नित्य माना जाये तो यह व्यर्थ कल्पनागौरव लगता है. तदुपरांत यह बात "**ब्रह्म एकमेव अद्वितीय है**" (छान्दो.उप.६।२।१) ऐसे श्रुतिवचनसे भी विरुद्ध लगती है. इसलिए धर्मोंको जगत्की तरह कार्यरूप मान लेना चाहिये; और ऐसा मान लेनेपर ब्रह्म किसी भी प्रकारकी खोटी कल्पनाओंसे रहित शुद्ध सिद्ध होगा. *

(समाधानम्)

इदम् उच्यते प्रकाशाश्रयवद् वा, 'वा' शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्यादयः प्रकाशेन न भिन्नाः, पृथक्स्थित्यभावात् समवेतत्वात् च; मूलाविच्छेदरूपेण तदाधारतया स्थितत्वात् च. नापि सूर्यएव, भिन्नप्रतीतेः विद्यमानत्वात् च तादृशमेव तद् वस्तु उत्पत्तिसिद्धम् इति मन्तव्यम्. कल्पनायामपि यथा सूर्य-प्रकाशयोः कल्पना एवं ब्रह्मधर्मयोरपि. नहि अन्यथा वेदप्रवृत्तिः निषेधशेषता 'सत्य'-'ज्ञाना'-'ऽनन्ता'-'ऽऽनन्द' पदानां सामानाधिकरण्यं वा सम्भवति.

(समाधान)

अनुवाद : ऐसे पूर्वपक्षके समाधानके रूपमें यह **प्रकाशाश्रयवद् वा** सूत्र रचा गया है. यहां **'वा'** शब्द पूर्वपक्षके निराकरणके लिए प्रयोग किया गया है. जिस प्रकार प्रकाश तेज उष्णता आदि धर्म उनके आश्रयभूत सूर्य आदिसे भिन्न नहीं होते, क्योंकि आश्रयभूत द्रव्यके अलावा दूसरे किसीसे प्रकट होते प्रतीत नहीं होते पर उसके देशोंसे अधिक देशोंमें चारों ओर फैल भी जाते हैं; अपने मूलसे विच्छिन्न हुए बिना अपने आधारभूत पदार्थोंमें रहते दिखलायी देते हैं. इसलिए सूर्यका प्रकाश सूर्य ही है ऐसा भी स्वीकारा नहीं जा सकता, क्योंकि उसकी सूर्यसे भिन्न विद्यमान होनेकी प्रतीति भी होती है. ऐसे प्रकाश और उसके आश्रयरूप पदार्थोंका स्वरूप सहज रीतिसे उभयविध समझमें आता है. ब्रह्म और उसके धर्मोंके बारेमें यदि कोई कल्पना करनी

हो तो वह भी सूर्य और उसके धर्मरूप प्रकाश की तुलनामें ही करनी चाहिये, किसी और तरहसे नहीं. क्योंकि नहीं तो वेदोंमें वर्णित उस ब्रह्मको यदि उसके गुणधर्मोंसे अलग मानें तो उनका स्वरूप समझनेके लिए एक ही ब्रह्मके लिए विविध **'सत्य' 'ज्ञान' 'अनन्त'** अथवा **'आनन्द'** जैसे पदोंका प्रयोग हुवा है वह भी उपपन्न नहीं होगा (क्योंकि ऐसे अलग-अलग पदोंसे किसी एक स्वरूपका बोध होता हो तो अलग-अलग पदोंका प्रयोग अनावश्यक है. और यदि इन अलग-अलग पदों द्वारा ब्रह्मके अलग-अलग स्वरूप प्रस्तुत होते हों तो द्वैतकी आपत्ति माथेपर पड़ेगी! अर्थाद् ब्रह्म एकमेव अद्वितीय नहीं रह जायेगा).

लक्षणायान्तु सुतरामेव धर्मापेक्षा. अतो विशिष्टपदार्थएव तादृशो वेदसिद्धः इति मन्तव्यम्. तत्र हेतुः तेजस्त्वात्, 'तेज' शब्दवाच्यत्वात्. बहुदूरव्याप्त्यर्थमेव हेतुः उक्तः, आतपादेः धर्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीतेः अपूर्ववदेव दृष्टत्वात् श्रुतत्वात् च न धर्मेष्वपि युक्त्यपेक्षा. तस्मात् सिद्धं यथाश्रुतमेव ब्रह्म इति.

अनुवाद : शब्दोंकी अभिधावृत्ति द्वारा भी ब्रह्मके बारेमें कुछ बोल पाना शक्य न रह पायेगा. अतः लक्षणावृत्तिसे कुछ सूचित किया जा सकता है, ऐसा यदि मानते हों तो अभिधावृत्तिसे ब्रह्मके बारेमें जैसे धर्मवाला कहा गया है वैसे धर्मवाला नहीं पर किसी दूसरे तरहके धर्मवाला उसे लक्षणावृत्तिसे कहा जाता माननेपर ब्रह्मको सधर्मक स्वीकारना पड़ेगा. इसलिए एक विशेष पदार्थके रूपमें ब्रह्मको वेदमें जैसे वर्णित किया गया वैसा मानना चाहिये. उसके उदाहरणके लिए तेजस्त्वाद् हेतुका प्रयोग किया है. **'तेजस्'** शब्दसे ब्रह्म वाच्य होनेके कारण. ऐसा हेतु देनेका कारण केवल एक ही है कि जैसे तेजस्वी कोई भी पदार्थ जहां होता है वहांसे बहुत दूर भी वह भासमान होता है, धूप उष्णता आदि धर्म भी धर्मी रूपमें भासमान पदार्थके

देशसे दूर तक भी अनुभवमें आते हैं. इसलिए जैसे शास्त्रके आधारपर कोई आचरण पुण्यकर्म तो कोई पापकर्म होता है पर वह अनुभवगोचर न होनेपर भी अपूर्व अथवा अदृष्ट के रूपमें स्वीकारा जाता है वैसे ही ब्रह्मके धर्मोंके बारेमें भी केवल शास्त्रवचनोंको ही आधारभूत मानना चाहिये, युक्तिवादको यहां अवकाश नहीं मिलता. इसलिए ब्रह्मका स्वरूप जैसा श्रुतिवचनोंमें वर्णित है उसीके अनुसार स्वीकारना योग्य है.

(एकदेशिमतेन समाधानम्)

पूर्ववद् वा ॥३।२।२९॥

एकदेशिमतेनापि सर्वसमाधानम् आह अथवा "अरूपवदेव हि..." (ब्र.सू.३।२।१४) इत्यादिपञ्चसूत्र्या यः सिद्धान्तः कथितः तादृशं वा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्.

(दूसरे ऋषियोंका अभिप्राय)

अनुवाद : सूत्रकार अपने जैसे अभिप्राय रखनेवाले ऋषियोंका भी अभिप्राय यहां समाधानके रूपमें प्रस्तुत करना चाह रहे हैं : अथवा जैसे पहले "अरूपदेव हि..." (ब्र.सू.३।२।१४) आदि पांच सूत्रोंमें जैसी प्रस्तुति करनेमें आयी थी उसके अनुसार भी ब्रह्मको माना जा सकता है.

(उत्पत्ति-उपपत्तिपक्षौ : ब्रह्मणः सर्वरूपत्वसिद्ध्यर्थे पक्षद्वयेन उपपत्तयः)

अयम् आशयो : वेदस्थापनार्थं हि प्रवृत्तिः तत्र यथा अक्षरमात्रस्यापि बाधो न भवति तथा वक्तव्यम्. यदर्थम् उभयरूपता अंगीकृता, तत्र धर्माणां स्वरूपनिर्वाहार्थम् अवश्यं ब्रह्मवैलक्षण्यम् अंगीकर्तव्यम्. तथा सति "एकमेव अद्वितीयम्" (छान्दो.उप.६।२।१) इति बाधः प्रसज्येत. तथाच उत्पत्त्या विचारे निर्धर्मकमेव पूर्वं ब्रह्म इति प्रतिपत्तव्यम्. उपपत्त्यापि विचारः पूर्वानुरोधेन कर्तव्यः.

(ब्रह्मकी सर्वरूपता सिद्ध करनेको दो उत्पत्तिपक्ष और उपपत्तिपक्ष द्वारा उपपत्ति)

अनुवाद : यहां कहनेका आशय है : यह ब्रह्मसूत्र ग्रंथ श्रुतिके मतको सुस्थिर और व्यवस्थित करनेके लिए सूत्रकारने प्रकट किया है. इसलिए श्रुतिके एक भी अक्षरका अन्यथा व्याख्यान सूत्रके आधारपर तो नहीं ही करना चाहिये. क्योंकि श्रुतियोंमें भी ब्रह्मका निरूपण दोनों प्रकारसे मिलता होनेके कारण सूत्रकार भी ब्रह्मको उभयविध स्वीकार करते हैं. इसीलिए ब्रह्मकी तुलनामें ब्रह्मके गुणधर्म किसी अंशमें विलक्षण होते हैं तो किसी प्रकारसे ब्रह्मरूप ही. अतः **''एकमेव अद्वितीयम्''** (छान्दो.उप.६।२।१) श्रुतिमें बतायी ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयतामें भी कुछ बाधक न हो ऐसा मत अंगीकार करना चाहिये. इसलिए उत्पत्तिकी प्रक्रियाके विचारसे, पहले ब्रह्मको निर्धर्मक मानकर वैसे ब्रह्ममें उसके गुणधर्म पीछेसे प्रकट हुए ऐसा स्वीकारना आवश्यक लगता है. उसके बाद वे गुणधर्म ब्रह्मकी एकमेवाद्वितीयताको बाधित ना करे इस हेतुसे उनको ब्रह्मात्मक मानना भी आवश्यक होता है.

तत्र धर्माणामपि ब्रह्मत्वे एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानम् उपपद्यते न अन्यथा. ततश्च प्रथमं ब्रह्म स्वधर्मरूपेण भवति. तदनु क्रियादिरूपेण प्रपञ्चरूपेण च. तावतैव सर्ववेदार्थसिद्धेः. नच लौकिकी युक्तिः तत्र अपेक्ष्यते, येन ''तादृशस्य कथं सर्वभावः?'' इति पर्यनुयोगो भवेत्. धर्मकल्पनायामपि ''न एषा तर्केण मतिः आपनेया'' (कठोप.१।२।९) इति समानम्. उत्पत्त्या च उपपत्त्या च विचारद्वयम्. उपपत्त्या पूर्वनयनं स्वसिद्धान्तः. एकदेशिनः तद्विपरीतम्. उभयमपि सूत्रकारस्य सम्मतम् इति.

अनुवाद : ब्रह्मके गुणधर्म ब्रह्मरूप हों तभी तो श्रुतिमें कहे गये एक ब्रह्मके ज्ञानसे सारी बातोंका विज्ञान शक्य बन पायेगा. इसीलिए सृष्टिको प्रकट करते हुए पहले ब्रह्मके स्वरूपसे धर्म प्रकट होते हैं.

उसके बाद ब्रह्म क्रिया आदिके रूपमें और अन्तमें प्रपंचके रूपमें भी. ऐसा माननेके अलावा श्रुतियोंके सभी विधानोंको न्याय नहीं दिया जा सकता. इस बारेमें किसी भी प्रकारके लौकिक युक्तिवाद अथवा तर्क की आवश्यकता नहीं है. अर्थात् सवाल ही खड़ा नहीं होता कि एकमेव अद्वितीय ब्रह्म सर्वरूपोंको कैसे प्रकट कर सकता है? अलग गुणधर्मोंकी कल्पनामें भी **''ब्रह्मके बारेमें ऐसी समझका तर्कके आधारपर कभी अवगणना नहीं करनी चाहिये''** (कठोप.१।२।९) ऐसा श्रुतिवचन तो लागू रहेगा ही. इसलिए उत्पत्ति और उपपत्ति यों दो प्रकारसे विचार किया जा सकता है. सूत्रकार अपना निजी पक्ष उपपत्तिविचारके आधारपर प्रस्तुत करते हैं. इस कारण ब्रह्म और उसके गुणधर्मों में एकत्व और वैलक्षण्य दोनों ही विरुद्धधर्माश्रयताके सिद्धान्तके आधारपर स्वीकार करनेका अभिप्राय दरसाते हैं. जबकि दूसरे विकल्पके रूपमें उनका कोई सहविचारक उत्पत्तिके विचारके आधारपर श्रुतिवचनोंका अभिप्राय प्रस्तुत करना चाहता है. ब्रह्मसूत्रमें सूत्रकारकी हैसियतसे दोनों प्रकारकी प्रस्तुति की गयी है.

(उपपत्त्यन्तरम्)

प्रतिषेधात् च ॥३।२।३०॥

एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरम् आह 'एकमेव' इति उक्त्वा पुनः 'अद्वितीयम्' इति द्वितीयं प्रतिषेधति. सः 'एव' कारेण सिद्धो व्यर्थः सन् धर्मनिषेधमपि सूचयति. 'ऐक्षद्' इति वचनात् तदुत्पत्तिः. चकाराद् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमः परिगृहीतः. तस्माद् न ब्रह्मणि कश्चिद् विरोधः इति सिद्धम्.

(दूसरी उपपत्ति)

अनुवाद : अपने सहविचारककी प्रस्तुतिके समर्थनमें एक दूसरी दलील

यह भी है कि श्रुतिमें **'एकमेव'** ऐसा कहकर **'अद्वितीयम्'** ऐसे दूसरेका निषेध करनेमें आया है. यह निषेध **'एक'** पदके साथ जुड़नेमें आते **'एव'**कारसे कहीं अधिक कहनेके लिए ही स्वीकारना चाहिये. अर्थात् ब्रह्मके मूल स्वरूपमें धर्म-धर्मीका भी भेद श्रुतिको मान्य नहीं है. इसीलिए **''उसने अनेक होनेकी इच्छा की''** इस श्रुतिवचनके आधारपर गुणधर्मोंकी भी उत्पत्ति स्वीकारनी योग्य ही है. इस सूत्रमें 'भी'के अर्थमें प्रयुक्त **च**कारके आधारपर एक विज्ञानसे जैसे सर्वविज्ञान होता है, वैसा उपक्रम करनेमें आया है. उसकी भी संगति ऐसे मिल जाती है. इसलिए ब्रह्मके बारेमें किसी भी प्रकारका विरोधाभास प्रकट नहीं होता है.

[२]अन्तराभूतग्रामवदित्यधिकरणम्॥

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः॥३।३।३५॥

(अन्तराभूतग्रामवदधिकरणसंशय-पूर्वपक्षौ)

अथ ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानं, तथा भक्तिमार्गे भक्त्या पुरुषोत्तमज्ञानं भवति न वा? इति विचार्यते.

सर्वान्तरत्वेन श्रुतौ कथनात् तद् भवति इति पूर्वः पक्षः.

(अन्तराभूतग्रामवद् अधिकरणगत संशय और पूर्वपक्ष)

अनुवाद : इस अधिकरणमें अब इस मुद्देका विचार करनेमें आया है कि जैसे ज्ञानमार्गमें ब्रह्मका ज्ञान अपनी आत्माके रूपमें होता है, वैसे भक्तिमार्गमें भक्तिके कारण पुरुषोत्तमका ज्ञान हो सकता है अथवा नहीं?

पूर्वपक्ष इस बारेमें ऐसा है कि श्रुतिमें उसको सर्वान्तर माना

होनेसे भक्तिमार्गमें भी पुरुषोत्तमका केवल आत्माके रूपमें ही भान होना चाहिये.

(अन्तराभूतग्रामवदधिकरणसिद्धान्तः)

तथात्वेऽपि "सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः" (बृह.उप.४।४।२२) इत्यादिश्रुतिभिः एवमेव ज्ञानं नतु तथा इति सिद्धान्तः. अत्र तथा ज्ञानाभावस्य आवश्यकत्वार्थं विपरीते बाधकम् आह, पूर्वस्मिन् सूत्रे ब्रह्मानन्दाद् भजनानन्दस्य आधिक्यं निरूपितं, सतु भगवद्दत्तः तद्व्यवधायको अर्थः च प्रभुणा न सम्पाद्यते. स्वात्मत्वेन ज्ञानं च भजनानन्दान्तरायरूपम्. यदि एतत् सम्पादयेत् तं न दद्याद्. अग्रे अन्यथाभावाद्. अतः स्वात्मत्वेन ज्ञानं भक्तिमार्गीयस्य न सम्भवति इति आशयेन आह अन्तरा स्वात्मनः इति.

(अन्तराभूतग्रामवद् अधिकरणका सिद्धान्त)

अनुवाद : सिद्धान्त इस बारेमें ऐसा है कि यह बात सत्य होनेपर भी **"वह सभीको वशमें रखनेवाला सबका ईश्वर है"** (बृह.उप.४।४।२२) ऐसे दूसरे अनेक श्रुतिवचनोंके आधारपर पुरुषोत्तमका ऐसा भान होता है, केवल आत्माके रूपमें नहीं. इसलिए ज्ञानीको ब्रह्मका भान जैसा होता है वैसा भान भक्तको नहीं होता. कारण कि उस ब्रह्मका भान भक्तको अलग प्रकारसे होता है. भक्तको पुरुषोत्तमका ज्ञान ज्ञानीको होते ब्रह्मज्ञानकी तरह होना आवश्यक नहीं है. नहीं तो पहले सूत्रमें जैसे बताया वैसे, ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा भजनानन्दका आधिक्य असिद्ध हो जायेगा. भजनानन्द तो स्वयं पुरुषोत्तम प्रदान करे तभी संभव हो पाता है. इसलिए पुरुषोत्तम स्वयं ही अपने द्वारा प्रदत्त भजनानन्दमें अपने स्वरूपका ज्ञान व्यवधायक अथवा बाधक नहीं बना सकता. जो स्वयं ही किसी फलप्रदान करनेकी इच्छा रखता हो वह स्वयं विघ्नकर्ता कैसे बन सकता है? भक्तको केवल अपनी आत्माके रूपमें ही जो पुरुषोत्तमका ज्ञान होने लगे तो भजनमें बाधा

हुए बिना रहेगी ही नहीं. इसलिए अपने बारेमें ऐसा ज्ञान भक्तको हो ऐसी यदि भगवान् इच्छा करें तो भजनानन्द प्रदान करनेका हेतु ही भगवान् नहीं बताते. इसलिए केवल आत्मा रूपसे पुरुषोत्तमका ज्ञान भक्तिमार्गीय साधकको नहीं होता. इसीलिए कहा **अन्तरा स्वात्मनः.**

भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेन अंगीकृतो यः आत्मा जीवः तस्य यद् आत्मत्वेन ज्ञानं तद् भजनानन्दानुभवे अन्तरा व्यवधानरूपम् इति भगवता तादृशे जीवे तद् न सम्पाद्यते इति अर्थः. तत्सम्पादनस्य सर्वथैव असम्भावितत्वं हीनत्वं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तम् आह भूतग्रामवद् इति. उक्तभक्तस्य विग्रहोऽपि अलौकिकइति तत्र लौकिको भूतग्रामो न सम्भवति, हीनत्वात् तथा इति अर्थः. अथवा लौकिको भूतग्रामः स्त्रीपुत्रपश्वादिः ब्रह्मानन्दानुभवे बाधकः, तथा भजनानन्दानुभवे स्वात्मत्वेन भगवज्ज्ञानम् इति अर्थः.

अनुवाद : भगवान् भक्तिमार्गमें जिसे अपना बनाकर अंगीकार करते हैं, उसकी आत्मा अर्थात् जीवात्माको भजनीय पुरुषोत्तमका ज्ञान केवल आत्माके रूपमें हो तो वह भजनमें अन्तरा व्यवधानरूप बन जाता है. इसलिए भगवान् भक्तात्माके भीतर ऐसा ज्ञान प्रकट होने नहीं देते. यदि ऐसा हो तो उसकी कैसी असंभव और निम्नकक्षाकी गति हो, इस बारेमें उदाहरण देते हैं **'भूतग्रामवद्'** कहकर. भक्तका शरीर भी भजनोपयोगी होनेपर साधारण जीवात्मा जैसा नहीं होता. साधारण जीवात्माओंके देह-इन्द्रिय-प्राण आदि भजनोपयोगी नहीं होनेके कारण किसी प्रकारकी हीनता लिए होती है. अथवा लौकिक **'भूतग्राम'**के अर्थमें स्त्री-पुत्र-पशु आदि लेना वह यदि ब्रह्मानन्दका अनुभव करना हो तो बाधक बन जाता है. भजनानन्दके अनुभवमें, परन्तु, सर्वात्मा भगवान्का ज्ञान अपनी आत्मामें भी आत्माके रूपमें होता है.

अन्यथा अभेदानुपपत्तिः इति चेद् न उपदेशान्तरवत्॥३।३।३६॥

(संशयान्तरः)

ननु भक्तेष्वपि उद्धवादिषु ज्ञानोपदेशः श्रूयते. सच आत्मब्रह्माभेदज्ञानफलकइति आत्मत्वेन ज्ञानाभावे तदभेदोपदेशानुपपत्तिः स्यादिति तद् मन्तव्यमेव. एवं सति भक्तिमार्गाद् ज्ञानमार्गस्य उत्कर्षः च सिध्यति .

(अन्य संशय)

अनुवाद : *उद्धव जैसे कितने ही भक्तोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश देनेका उल्लेख मिलता है. उसके फलरूपमें अपनी आत्मा और ब्रह्मके बीचमें अभेदज्ञान भक्तोंको भी होना चाहिये. अब यदि ऐसा कहनेमें आये कि भक्तको आत्माके रूपमें भगवान्का ज्ञान होता ही नहीं है तो वैसा उपदेश ही अनुपपन्न हो जायेगा! इससे भक्तिमार्गकी अपेक्षा ज्ञानमार्गका उत्कर्ष सिद्ध होगा. *

(समाधानम्)

इति आशंक्य परिहरति उपदेशान्तरवद् इति, नहि अत्र अभेदज्ञानाय उपदेशः किन्तु यथा अग्रिम-'स्वर्गा'-'ऽपवर्गा'ख्य-पारलौकिकानन्द-फलकालौकिके कर्मणि अधिकाररूपसंस्कारार्थं गायत्र्युपदेशः क्रियते, तत्संस्कारसंस्कृतं तच्छरीरादिकमपि भूतादिभिरपि न उपहतं भवति, यथावा योगोपदेशसंस्कृतस्य वपुः अग्न्यादिभिः न उपहन्यते, तथा प्रकृते भक्तिभावस्य रसात्मकत्वेन संयोगविप्रयोगभावात्मकत्वाद् द्वितीयस्य प्रलयानलाद् अतिकरालत्वेन कदाचित् तद्भावोदये तेन भक्तवपुरादेः तिरोधाने अग्रिमभजनानन्दानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं ज्ञानोपदेशसंस्कारसंस्कृतं तद्वपुरादिकं भगवता क्रियते, नतु आत्माभेदज्ञानं भगवतो अभिप्रेतम् इति अर्थः. अन्यथा उपदेशानन्तरं बदरीं गच्छन् विदुरं प्रति "इह आगतो अहं विरहातुरात्मा" (भाग.पुरा.३।४।२०) इति न वदेत्. एवमेव अन्येष्वपि भक्तेषु ज्ञेयम्.

(समाधान)

अनुवाद : ऐसी आशंकाके परिहारके लिए **उपदेशान्तरवद्** पदोंका प्रयोग किया है. भक्तोंको ज्ञानमार्गका उपदेश अभेदज्ञान प्रकट करनेके लिए नहीं दिया जाता है. स्वर्ग अथवा अपवर्ग रूपी पारलौकिक आनन्द फल देनेवाले अलौकिक कर्म करनेका अधिकार जैसे संस्काररूप गायत्रीमन्त्रके उपदेशसे सिद्ध होता है, जिसके कारण उसके संस्कारसे संस्कृत शरीर आदि भी साधारण भौतिक पदार्थोंकी खामीका शिकार नहीं होता. अथवा जिस प्रकार योगोपदेशसे संस्कृत शरीर अग्नि आदि पदार्थोंसे उपहत नहीं होता. उसी प्रकार इस प्रसंगमें भी भक्तिभाव क्योंकि रसात्मक होता है, इसीलिए संयोग-विप्रयोग उभयभावात्मक होता है. इसलिए भगवान्का वियोगभाव कभी प्रलयानल जितना अतिकराल ना बन जाये अथवा वैसे भावके कारण भक्तका शरीर आदि तिरोहित ना हो जाये कि जिससे आगे संयोगभावके अनुभवमें भी अन्तराय आ पड़े. इस कारण इसकी निवृत्तिके लिए भक्तोंको ब्रह्मज्ञानका उपदेश एक संस्कारके रूपमें ही काम करता है. इसके कारण वैसे संस्कारसे संस्कृत भक्तका शरीर आदि भगवद्वियोगभावको सजोये रखनेमें समर्थ हो जाता है. इससे भगवान् अपने केवल आत्मारूपसे ही भक्तको अनुभाव जतायें, यह भगवान्को भी अभिप्रेत है, ऐसा मान लेनेका कोई भी कारण नहीं है. यदि भगवान्का अभिप्राय ऐसा ही होता तो वैसा ज्ञानोपदेश लिए हुए होनेके बाद भी उद्धवजी जब बद्रिकाश्रमकी यात्रापर गये तब विदुरजीने **''मैं यहां भगवान्के विरहसे अति आतुर होकर आया हूं''** (भाग.पुरा.३।४।२०) ऐसी बात कभी न करते. इसलिए दूसरे भक्तोंके बारेमें भी यह विवेक समझा जा सकता है.

अत्र 'उपदेशान्तर' पदं प्रस्तुतोपदेशभिन्नम् उपदेशान्तरम् आहेति प्रस्तुतस्य तस्य अन्यस्य अभावाद् 'अभेद' पदेन अभेदोपदेशएव उच्यते. एतेन भगवान् स्वीयानां भक्तिभावप्रतिबन्धनिरासायैव ''सर्वं करोति''

इति ज्ञापितं भवति.

अनुवाद : यहां **'उपदेशान्तर'** पद प्रयोग किया है वह प्रस्तुत उपदेशसे किसी भिन्न उपदेशके अर्थमें लेना है. प्रस्तुत उपदेश तो **'अभेद'** पदके प्रयोगके कारण अभेदोपदेश ही है. इसलिए भिन्न अर्थात् वह अभेद तो हो ही नहीं सकता. अतः जैसे स्वयं भगवान् हैं वैसे उनके भक्तिभावमें आते प्रतिबंधोंको दूर करनेके लिए **''सब कुछ करते हैं''** ऐसा ज्ञापित हुआ.

अथवा उपदेशान्तरवद् इत्यस्य अयम् अर्थः : शरीराद्यध्यासवतः ''तद्भिन्नः आत्मा तत्त्वं नतु शरीरादिः'' इति उपदेशो ज्ञानमार्गे यथा क्रियते तेन शरीरादौ आत्मबुद्धया यः स्नेहादिः सो अपगच्छति; तथा अत्र सर्वेषाम् आत्मनो हि आत्मा ''यः आत्मनि तिष्ठन्'' (शतप.ब्रा.१४।६।७।३०) इत्यादिश्रुतिसिद्धो जीवात्मनोऽपि आत्मा पुरुषोत्तमः इति बोध्यते. तेन पुरुषोत्तमे निरूपधिः स्नेहः तत्सम्बन्धित्वेन आत्मनि च सिध्यति. यद्यपि एवंभावः पूर्वमपि आसीदेव तथापि सहजस्य शास्त्रार्थत्वेन ज्ञाने सति प्रमोदो दार्ढ्यं च भवतीति तथा. न एतावता जीवाभेदः आयाति. अग्रे जीवनसम्पत्तिरेव उपदेशकार्यं नतु तेन पूर्वभावोपमर्दः सम्भवति इति सारम्. तेन ज्ञाने सर्वाधिक्यं मन्वानाय भक्तिबलप्रदर्शनं च सिद्ध्यति.

अनुवाद : अथवा तो **'उपदेशान्तरवत्'**पद अभिप्राय ऐसे भी लिया जा सकता है : जिनको शरीर आदिका अध्यास होता है, उनके लिए तो ''शरीरसे भिन्न आत्मा ही प्रमुख तत्त्व होती है ना कि शरीर आदि'' ऐसा उपदेश ज्ञानमार्गमें देनेमें आता है. इसलिए शरीर आदिमें आत्मबुद्धिसे जो स्नेह होता है वह खण्डित हो जाता है. इससे अलग भक्तिमार्गमें तो भगवान्को ही सभी आत्माओंकी आत्माके रूपमें स्वीकारनेमें आया है : **''जो आत्माके भीतर बिराजमान है''** (शतप.ब्रा.१४।६।७।३०) आदि श्रुतिवचनोंके आधारपर. भगवान् पुरुषोत्तम

तो जीवात्माओंके भी आत्माके रूपमें स्वीकारनेमें आये हैं. इसलिए पुरुषोत्तममें किसी भी तरहकी उपाधि बिनाका स्नेह होनेके कारण अपनी आत्माके बारेमें जो अपना स्नेह हो, वह भी परमात्माके बारेमें हमारे निगूढ़ स्नेहके कारण ही होता है. वैसे स्नेहभावकी हकीकत एक प्रकारसे देखनेसे तो पूर्वसिद्ध ही है. फिर भी जो सहज हकीकत हो, उसे भी शास्त्रसिद्ध हकीकतके रूपमें जाननेसे कुछ विलक्षण प्रमोदकी बात लगती है और दृढ़ता भी अधिक होती है! इसलिए जीवात्मा और परमात्मा के बीच ऐकान्तिक अभेद स्वीकारा नहीं जा सकता. क्योंकि अभेदोपदेशका प्रयोजन तो वियोगानुभवमें भक्तके जीवनको टिकाये रखनेके लिए ही है. अतः अभेदोपदेश भक्तके मूलभावका बाधक नहीं बन सकता. इसलिए अभेदज्ञानको सबसे अधिक माननेवालेके लिए इस अधिकरणमें भक्तिकी प्रबलता दिखलानेमें आयी है.

(आशंकान्तरं तस्य समाधानं च)

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्॥३।३।३७॥

ननु ''तद् यो अहं सो असौ सो अहम्'' (ऐत.आर.२।२।४) इति ऐतरेयके तैत्तिरीयके च ''अहम् अस्मि ब्रह्म अहम् अस्मि'' (महाना.उप.५।१०) इति पठ्यते. अत्र मध्यस्थं 'ब्रह्म' पदम् उभयत्र सम्बध्यते तेन आवृत्त्या व्यतिहारः. अतो ब्रह्माभेदः सिध्यति. तथा लीलामध्यपाति-भक्तानामपि ''कृष्णो अहम्' - 'अहं कृष्णः'' इति भावः उल्लेखः च श्रूयते. अतः तदभेदज्ञानं भक्तिफलम् इति पम्फुल्यमानं प्रतिवादिनं तत्स्वरूपं बोधयति, रसात्मकत्वाद् भक्तेः संयोगविप्रयोगात्मकत्वाद् द्वितीयभावोद्रेके यथा इतरे अश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावाः तथा अतिविगाढभावेन तदभेदस्फुर्तिरपि एकः. सच न सार्वदिकः, तदा स्वात्मानं तत्त्वेन विशिंषन्ति तं च स्वात्मत्वेन. सो अत्र 'व्यतिहार' पदार्थः इति अर्थः.

(अन्य भी एक आशंका और उसका समाधान)

अनुवाद : अब यदि ऐसी आशंका हो कि **''मैं जो भी हूं वह तो तू ही है, तू जो कुछ है वह तो मैं ही हूं''** (ऐत.आर.२।२।४) ऐसे ऐतरेयमें एवं तैत्तिरीयमें भी **''मैं हूं ब्रह्म मैं हूं''** (महाना.उप.५।१०) वचन मिलते हैं. यहां मध्यमें प्रयुक्त 'ब्रह्म' पद दोनों स्थानोंसे आवृत्तिसे जुड़ा हुवा है इसे 'व्यतिहार' कहते हैं. अतः ब्रह्माभेद सिद्ध होता है. भक्तोंके साथ की जाती लीलाके मध्यपाती भक्तोंके बारेमें भी ''कृष्ण मैं हूं - मैं कृष्ण हूं'' ऐसे भावका उल्लेख मिलता है. इसलिए भगवान्‌के साथ भक्तोंको भी जो अभेदज्ञान हो उसे भक्तके फलके रूपमें मानकर फूलनेवाले प्रतिवादीको भक्तिका सच्चा स्वरूप समझानेके लिए कहते हैं कि भक्ति रसात्मिका होनेके कारण संयोग-वियोग उभयविध भावात्मिका होती है. उसमें यदि दूसरा भाव उभरे तो इतर अर्थात् अश्रु-प्रलाप आदि संचारी भावसे भी अतिशय गाढ़ वियोगभाववश कभी भक्तोंका भगवान्‌के साथ अपना अभेद स्फुरित होने लगता है. ऐसी अभेदस्फूर्ति कभी भी हमेशा टिकी नहीं रहती, तब वह भक्त अपनी आत्माको परमात्माके रूपमें और परमात्माको अपनी आत्माके रूपमें विशेषित करता है. इसे यहां **'व्यतिहार'** पदके प्रयोगका प्रयोजन जानना चाहिये.

अपरञ्च उद्देश्यविधेयभावस्फूर्तौ नहि अद्वैतज्ञानम् अस्ति किन्तु भावनामात्रं, भक्तानान्तु विरहभावे तदात्मकमेव अखण्डं स्फुरति, येन तल्लीलां स्वतः कुर्वन्ति. एतद् यथा तथा श्रीभागवतदशमस्कन्धवि-वृत्तौ प्रपञ्चितम् अस्माभिः. एवं सति मुख्यं यद् अद्वैतज्ञानं तद् भक्तिभावैकदेशव्यभिचारिभावेषु एकतरद् इति सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञान-भक्त्योः तारतम्यं कथं वर्णनीयम्! इति भावः.

अनुवाद : तदुपरांत इन श्रुतिवचनोंमें अपनी आत्माको परमात्मा; और, परमात्माको अपनी आत्माके रूपमें निरूपित करनेमें उद्देश्य-विधेयभावका

प्रभेद तो प्रकट होता ही है. इसलिए ऐकान्तिक अभेदज्ञान तो यहां अभिप्रेतार्थ माना ही नहीं जा सकता. अलबत्ता इसे भक्तकी मनोभावना निश्चित ही मानी जा सकती है, जबकि भक्तोंको विरहभाव प्रबल हो तब अपने भीतर भगवतात्मकता ही अखंड स्फुरित होने लगती है, जिसके कारण वह भगवल्लीला स्वयं प्रकट करने लगते हैं. इस तथ्यकी विवेचना श्रीभागवतके दशमस्कंधकी विवृत्तिमें विस्तारसे की गयी है. अतः ज्ञानमार्गमें जो प्रमुख अद्वैतज्ञान वह भक्तिमार्गमें भक्तिभावका ऐकदेश अथवा अनेकविध संचारिभावमेंसे एक गौणभाव है. इसलिए ज्ञान और भक्तिके बीचमें अन्तर सरसोंके ढेर और मेरुपर्वत जितना है!

[३]सैव हीत्यधिकरणम्

सैव हि सत्यादयः ॥३।३।३८॥

(सैव हीत्यधिकरणसंशय-पूर्वपक्षौ)

अथ इदं विचार्यते : प्राप्तभक्तेः पुरुषस्य सत्यशमदमादयोः विधीयन्ते न वा? इति.

फलोपकार्यन्तरंगसाधनत्वात् शुद्धौ सत्यामेव चित्ते भगवत्प्रादुर्भाव-सम्भवाद् विधीयन्ते इति पूर्वपक्षः.

(सैव हि अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष)

अनुवाद : अब यह बात विचारनेमें आती है : जिस जीवात्माके भीतर भक्तिभाव खिल गया उसे सत्य शम दम आदिके आचरणका विधान करनेमें आया है अथवा नहीं?

फलोपकारी साधनोंमें चित्तशुद्धि अन्तरंग साधन होनेसे; और, ऐसे ही चित्तमें भगवत्प्रादुर्भाव सम्भव होनेसे ऐसा विधान स्वीकारने योग्य है ऐसा पूर्वपक्ष है.

(सैव हीत्यधिकरणसिद्धान्तः)

तादृशस्य ते न विधीयन्ते इति सिद्धान्तः. तत्र हेतुम् आह हि यस्माद् हेतोः सैव भक्तिरेव सत्यादिसर्वसाधनरूपा. तस्यां सत्यां सत्यादयो ये ज्ञानमार्गे विहितत्वात् कष्टेन क्रियन्ते मुमुक्षुभिः, ते भक्तहृदि भगवत्प्रादुर्भावात् स्वतएव भवन्तीति न विधिम् अपेक्षन्ते इति अर्थः.

(सैव हि अधिकरणका सिद्धान्त)

अनुवाद : वैसे भक्तके लिए ऐसे विधानकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा सिद्धान्त है. उसमें हेतु बताते हैं **'हि'** कहकर क्योंकि **'सैव'**=भक्ति ही सत्य आदि सभी साधनस्वरूपा है. उस भक्तिके होनेपर सत्य आदि साधनाचरण ज्ञानमार्गमें विहित हैं ज्ञानमार्गी मुमुक्षुको तो बहुत कष्ट पा कर करना पड़ता है, जबकि भक्तके हृदयमें तो भगवत्प्रादुर्भावके कारण वह स्वयं सहज प्रकारसे सम्पन्न हो जाता है. इसलिए विधि-विधानकी आवश्यकता इस बारेमें नहीं रहती है.

कामाद् इतरत्र तत्र च आयतनादिभ्यः ॥३।३।३९॥

(द्विविधा भक्तिः)

पूर्वसूत्रे शास्त्रोक्ताखिलसाधनरूपत्वं भक्तेः उक्तं, तद्दाढ्यर्थम् अधुना मुक्तिप्रतिबन्धकत्वेन हेयत्वेन उक्तानां कामादीनामपि भगवत्सम्बन्धाद् मुक्तिसाधकत्वम् उच्यते. भक्तिस्तु विहिता अविहिता च इति द्विविधा. माहात्म्यज्ञानयुता ईश्वरत्वेन प्रभौ निरूपधिस्नेहात्मिका विहिता. अन्यतो अप्राप्तत्वाद् कामाद्युपाधिजा सातु अविहिता. एवम् उभयविधायाअपि तस्याः मुक्तिसाधकत्वम् इति आह इतरत्र विहितभक्तेः इति शेषः. कामाद्युपाधिजस्नेहरूपायां कामाद्येव मुक्तिसाधनम् इति अर्थो, भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात्. 'आदि'पदात् पुत्रत्वसम्बन्धित्वादयः. स्नेहत्वाभावेऽपि अविहितत्व-भगवद्विषयकत्वयोः अविशेषाद् द्वेषादिरपि

संगृह्यते. तेन भगवत्सम्बन्धमात्रस्य मोक्षसाधकत्वम् उक्तं भवति. तत्र विहितभक्तौ इति अर्थः. शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेन उक्ताः हि गृहाः सर्वनिवेदनपूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगित्वेन तेभ्यएव मुक्तिः भवति इति अर्थः. एतादृशानां गृहाः भगवद्गृहाएव इति ज्ञापनाय 'आयतन' पदम्. तेषु तथा प्रयोगप्राचुर्यात्. 'आदि' पदेन स्त्रीपुत्रपश्वादयः संगृह्यन्ते. एतेन ज्ञानादिमार्गाद् उत्कर्षः उक्तो भवति, बाधकानामपि साधकत्वात्. माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहे सत्येव भर्तृत्वेन ज्ञाने कामोऽपि सम्भवति इति ज्ञापनाय च कारः.

(द्विविधा भक्ति)

अनुवाद : पिछले सूत्रमें शास्त्रोक्त निखिल साधनरूपता भक्तिकी बतलायी, उसे दृढ़ करनेके लिए अब मुक्तिमें जो प्रतिबन्धक हो अथवा तो जिसे हेय माननेमें आया हो ऐसे काम क्रोध आदि भी भगवान्के साथ जुड़नेसे मुक्तिके साधन बन जाते होनेके कारण भक्ति तो विहिता अथवा अविहिता किसी भी प्रकारकी हो सकती है. वह विहिता भक्ति भगवान्के माहात्म्यज्ञानसे युक्त और ईश्वररूप प्रभुमें निरूपाधिक स्नेहरूपा होती है. और किसी भी प्रकारसे कहींसे ख्याल भी ना आये ऐसे काम आदि उपाधिके कारण होती भक्ति अविहिता होती है. यों दोनों प्रकारकी भक्ति मुक्तिकी साधिका तो बनती है, यह बताते हैं **'इतरत्र'** अर्थाद् विहितभक्तिसे अलग काम आदि उपाधिके कारण भी यदि भगवान्में स्नेहरूपा भक्ति खिल उठे तो वह काम आदि रूपा भी मुक्तिका साधन बन जाती है, क्योंकि कामादि भगवान्में जीवात्माके चित्तको भगवान्से जुड़ जानेके कारणभूत हो जाते हैं. यहां **'आदि'** पदके प्रयोगके कारण भगवान्का पुत्रभाव अथवा सखाभाव आदि भावोंसे भी भजनके प्रकार कहनेमें आये हैं. स्नेहके अलावा द्वेष आदि भी अविहित होनेके कारण और भगवान्के बारेमें दृढ़ हो जानेपर भगवान्के साथ जुड़ पानेके कारण बन पाते हैं. इसलिए भगवान्के साथ संबंधमात्र जुड़नेसे वह संबंध मोक्ष साधक बन जाता

है, ऐसा बताया. **'तत्र'** अर्थात् विहितभक्तिमें. शास्त्रमें जिन्हें सर्वथा हेय गिना गया है ऐसे सांसारिक गृहस्थ भी सर्वस्वका निवेदन करके अपने घरोंमें भगवत्सेवा करनेवालोंके घर-परिवार आदि भगवदुपयोगी बन जानेसे मुक्तिका साधन बन सकते हैं. क्योंकि ऐसे भक्तोंका घर भगवद्गृहके रूपमें दैदीप्यमान हो उठता है, इसलिए **'आयतन'** पदका प्रयोग किया. क्योंकि **'आयतन'** पदका प्रयोग मोटे तौर पर भगवद्गृहके लिए अधिक होता है. यहां **'आदि'** पदके प्रयोगके कारण स्त्री पुत्र पशु आदि का भी संग्रह किया जा सकता है. इससे ज्ञान आदि मार्गसे भक्तिमार्गका उत्कर्ष सिद्ध हुआ. क्योंकि जो बातें बाधक हों वे भी भक्तिमार्गमें साधक बन जाती हैं. माहात्म्यज्ञानके बाद प्रकट होते स्नेहमें पति आदि भावोंके साथ ज्ञान होनेपर काम आदि सम्भव हो सकता है, यह बतानेके लिए **'च'**कारका प्रयोग किया है.

।। चतुर्थाध्यायका अधिकरण ।।
(फलस्वरूपविवेचनपरक)

।। जगद्व्यापारवर्जाधिकरणम् ।।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणाद् असंनिहितत्वात् च ।।४।४।१७।।

(जगद्व्यापारवर्जाधिकरणसंशयपूर्वपक्षौ)

ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिकव्यापारयुतम् उत न? इति संशये, तद्युतम् इति पूर्वपक्षः. तथा सति मुक्तित्वभंगात् पूर्वोक्तम् अनुपपन्नम् इति प्राप्ते,

(जगद्व्यापारवर्ज अधिकरणके संशय और पूर्वपक्ष)

अनुवाद : जीवात्मा मुक्तावस्थामें ब्रह्मानन्दका जो उपभोग परमात्माके साथ करता है वह लौकिक व्यापारके साथ करता है अथवा उसके बिना? ऐसा संशय होता है. इसमें पूर्वपक्ष ऐसा है कि ब्रहानंदका उपभोग जीवात्मा भी लौकिक व्यापारों(व्यवहार)के साथ क्यों नहीं निभा पायेगा? और यदि वह निभा पाता हो तो जीवात्माको मुक्त मानना कठिन हो जायेगा, क्योंकि लौकिक व्यवहारोंसे छुटनेका नाम ही तो 'मुक्ति' है.

(जगद्व्यापारवर्जाधिकरणसिद्धान्तः)

आह जगद्... इत्यादि. पूर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापारः कायवाङ्मनसां तद्वर्जं तद्रहितं भोगकरणम्. तत्र हेतू आह प्रकरणाद् असंनिहितत्वात् च इति. ''ब्रह्मविद् आप्नोति परम्'' (तैत्ति.उप.२।१) इति उपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिकव्यापारो असम्भावितः. किञ्च लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगद्

दूरतरम् इतोऽपि हेतोः न तत्सम्भवः.

(जगद्व्यापारवर्ज अधिकरणका सिद्धान्त)

अनुवाद : उसका समाधान देनेके लिए सूत्रकार कहते हैं **जगद्...** इत्यादि. पूर्वोक्त जगत्सम्बन्धी लौकिक व्यापार जो काया वाणी अथवा मन से संपन्न होता है वह जीवात्मा मुक्तावस्थामें उससे वर्जित ब्रह्मानंदका उपभोग करता है. उसमें दो हेतु देते हैं : **'प्रकरणाद्'** और **'असंनिहितत्वात्'** ऐसे. ''**ब्रह्मवित् परम्को पाता है**'' (तैत्ति.उप.२।१) ऐसे उपक्रममें कहा गया है, अतः यह निरूपण मुक्तिप्रकरणके अन्तर्गत आता होनेके कारण, उस मुक्तिमें लौकिक व्यापार/व्यवहार जीवात्मा कर पाने समर्थ हो नहीं सकेगी. भगवान्की मुक्तिलीला काल माया आदि जो सृष्टिकी सीमाऐं हैं उसके बाहर होनेके कारण, न तो प्राकृत जगत् स्वयं जीवात्मासे जुड़ा हुआ रह जाता है न उसके साथ किसी भी तरहका व्यवहार मुक्त जीवात्माके लिए संभव है.

(लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारः)

कदाचिद् लोके लीलाप्रकटनेच्छायां तदधिष्ठानत्वयोग्ये मथुरादिदेशे अतिशुद्धे, गोलके चक्षुरिन्द्रियमिव स्थापयित्वा लीलां करोति. तदापि लीलामध्यपातिनां न लौकिकव्यापारसम्भवः. नहि चक्षुरिन्द्रियं गोलककार्यं करोति नवा तन्नाशे नश्यति. एतत् सर्वं ''दिवीव चक्षुः आततम्'' (ऋक्.संहि.१।२२।२०) इति श्रुतिव्याख्याने विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम्.

(लीलामध्यपाती भक्तोंमें लौकिकव्यापार शेष नहीं रहता)

अनुवाद : भगवान् स्वयं कभी यदि लोकमें अपनी लीला प्रकट करनेकी इच्छा करें तो वैसी लीलाभूमि अतिशुद्ध मथुरा आदि देशोंमें प्रकट होती है. जैसे नयनगोलकोंमें चक्षु इन्द्रिय प्रकट होती है. उस प्रकार वैसे लीलाप्रदेशोंमें मुक्त जीवात्माओंको भी स्थापित करके भगवान्

स्वयं लीला करते हैं. उसमें भी मुक्त अर्थाद् लीलामध्यपाती जीवोंमें लौकिक व्यापार/व्यवहार संभव नहीं है. क्योंकि चक्षु इन्द्रिय नयनगोलकोंका काम नहीं करती और ना ही वह चक्षु इन्द्रियका नयनगोलकके नष्ट होनेसे नाश होता है. यह सब **''दिवीव चक्षुः आततम्''** (ऋक्.संहि.१।२२।२०) श्रुतिके व्याख्यानके अन्तर्गत 'विद्वनमण्डन' ग्रन्थमें प्रतिपादित करनेमें आया है.

(भगवदितरविषयकेन्द्रियव्यापारनिषेधः)

किञ्च छान्दोग्ये ''भूमैव सुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्यः'' (छान्दो.उप.७।२३।१) इति उक्त्वा भूम्नो लक्षणम् आह ''यत्र न अन्यत् पश्यति न अन्यत् शृणोति न अन्यद् विजानाति स भूमा'' (छान्दो.उप.७।२४।१) इति. अत्र ''न अन्यद् विजानाति'' इत्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि यद् इन्द्रियव्यापारो निषिद्धः, तत्रापि अन्यविषयकः, तेन भगवद्विषयकः स सिद्धो भवतीति जगद्व्यापारराहित्यं सिद्धम्. तत्र तेन भगवतएव स्वतन्त्रफलत्वम् उक्तं भवति, नहि सुखस्य अन्यप्रयोजनम् अस्ति.

(भगवान्से अन्यविषयक इन्द्रियोंके व्यापारका निषेध)

अनुवाद : छान्दोग्योपनिषद्में **''सच्चा सुख तो भूमा पुरुष ही है इसलिए उसकी ही जिज्ञासा करनी चाहिये.''** (छान्दो.उप.७।२३।१) ऐसा कहकर भूमापुरुषके लक्षण भी कहे गये हैं कि **''जिसका अनुभव होनेके बाद दूसरा कुछ दीखता नहीं है. ऐसा वह पुरुष भूमा होता है''** (छान्दो.उप.७।२४।१) ऐसे शब्दोंमें. यहां ''दूसरे किसीकी आवश्यकता पड़ती नहीं है'' केवल इतना कह दिया होता तो पर्याप्त होता परंतु उसके बाद भी जो इन्द्रिय विषयोंके व्यापारका निषेध करनेमें आया, उसमें फिर भूमासे अतिरिक्त कोई भी विषय अनुभवमें नहीं आता, ऐसा जो कहा उसके कारण भूमाका अनुभव भगवद्विषयक अनुभव होता है यह सिद्ध होता है. इसलिए जागतिक व्यापार अथवा

व्यवहार उस अवस्थामें संभव नहीं. इस अवस्थामें तो केवल भगवान् ही स्वतंत्र फलके रूपमें अनुभवमें आते हैं. भगवदनुभूतिके सुखसे भिन्न दूसरे फलका प्रयोजन क्या हो सकता है!

प्रत्यक्षोपदेशाद् इति चेद् न, आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥४।४।१८॥

(पूर्वपक्षान्तरम्)

***ननु एतत्प्रकरणएव छान्दोग्ये पठ्यते "सर्वं ह पश्यति" (छान्दो.उप.७।२६।२) इति सर्वविषयकप्रत्यक्षम् उपदिश्यतइति अन्यविषयकव्यापारराहित्यं न उपपद्यते* इति आशंक्य**

(एक अन्य पूर्वपक्ष)

अनुवाद : अब एक शंका ऐसी होती है कि छान्दोग्योपनिषद्के ही इस प्रकरणमें **"वह सब देख रहा है अथवा देख सकता है"** (छान्दो.उप.७।२६।२) ऐसे प्रत्येक विषयका चाक्षुष ज्ञान यदि मुक्तावस्थामें हो सकता हो तो लौकिक व्यापारोंका भी अनुभव स्वीकारना चाहिये!

(समाधानम्)

समाधत्ते आधिकारिक... इत्यादिना. अत्र इदम् उच्यते "सो अश्नुते..." (तैत्ति.उप.२।१), "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्र.सू.२।१।-३३) इत्यादिभिः नित्यलीलामध्यपातित्वं तस्य उच्यते. "न अन्यत् पश्यति" (छान्दो.उप.७।२४।१) इत्यादिश्रुतिवशात् जगद्व्यापारवर्जं भोगकरणं पूर्वसूत्रेण उक्तम्.

(समाधान)

अनुवाद : इसके समाधानके रूपमें **"आधिकारिक..."** आदि शब्दोंद्वारा लौकिक व्यापार शक्य न होनेका हेतु देते हैं. कहनेका अभिप्राय यह है कि **"वह ब्रह्मज्ञानी अपनी सारी कामना ब्रह्मके साथ**

परिपूर्ण कर लेता है'' (तैत्ति.उप.२।१), **''परमात्माका सृष्टिके रूपमें प्रकट होना लोकमें जैसे कोई लीलाके रूपमें कुछ करे, उस प्रकार समझना चाहिये.''** (ब्र.सू.२।१।३३) आदि वचनोंके आधारपर नित्यलीलामें मुक्तात्माओंकी स्थिति वर्णन की गयी है. **''दूसरा कुछ दीखता नहीं है''** (छान्दो.उप.७।२४।१) आदि श्रुतिवचनोंके आधारपर जागतिक व्यापारोंके अलावा सभी प्रकारके ब्रह्मानंदोंका अनुभव होनेकी बात पूर्वसूत्रमें बतायी गयी.

(शंकान्तरम्)

अथ इदं विचार्यते ''न अन्यत् पश्यति'' (छान्दो.उप.७।२४।१) इति प्रकरणएव ''सर्वं ह पश्यति'' इति सर्वविषयकं दर्शनम् उच्यते, तत् कथं पूर्वोक्तम् उपपद्यते? इति. किञ्च एकस्यैव भक्तस्य देशकालभेदेन क्रियमाणानेकलीलासम्बन्धित्वं भवति; तच्च लीलानित्यतायां न घटते, यतः तत्तद्देश-तत्तत्काल-सम्बन्धिनी सा अनित्या. एवं सति एकस्य अनेकरूपत्वं जीवस्य न सम्भवतीति तन्नित्यत्वमपि न सिध्यति इति.

(अन्य शंका)

अनुवाद : अब प्रसंगोपात्त यह विचार कर लेना आवश्यक है कि **''दूसरा कुछ दिखलायी नहीं देता''** (छान्दो.उप.७।२४।१) इस प्रकरणमें ही **''उसे सभी कुछ दिखलायी देने लगता है''** ऐसे सभी विषयोंका जो प्रत्यक्षज्ञानका वर्णन किया गया है, वह किस प्रकार उपपन्न हो पायेगा? देशकालके भेदसे एक ही भगवान्द्वारा की जाती अनेक लीलाओंमें एक ही भक्त किस प्रकार जुड़ पायेगा? और यदि भगवान्की लीला नित्य हो तो जुड़ना भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि उन-उन देशकालसे जुड़ी हुयी लीला तो नित्य हो नहीं सकती. जीवात्मा एक होनेके कारण उसकी अनेकरूपता मान्य हो नहीं सकती. और इसलिए ही मुक्त जीवात्माके साथ भगवान्के द्वारा करनेमें आती हुयी लीला भी नित्य नहीं हो सकती.

(तत्समाधानम्)

तत्र उच्यते : श्रुतौ 'सर्व'पदेन न जगद् उच्यते किन्तु यस्यां-यस्यां लीलायां देशकालभेदेन क्रियमाणायाम् अधिकृतो यः एको भक्तः तस्यैव तावन्ति रूपाणि सन्ति तानि 'आधिकारिकाणि' इति उच्यन्ते. तेषां मण्डलं=समूहः, तत्र स्थितवस्तुमात्रम् उच्यते इति न अनुपपन्नं किञ्चित्. अतएव अग्रे पठ्यते ''सर्वं आप्नोति सर्वशः इति, स एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा भवति, सप्तधा नवधा चैव पुनः च एकादशः स्मृतः शतं च दशं चैकः च सहस्राणि च विंशतिः'' (छान्दो.उप.७।२६।२) इति. यथा मण्डलवर्तिषु पुंसु न एकस्य प्राथम्येन प्राधान्यं वक्तुं शक्यं, तथा एतेष्वपि रूपेषु इति ज्ञापनाय 'मण्डल'पदम् उक्तम्.

(इसका समाधान)

अनुवाद : इसके उत्तरमें कहते हैं : ऐसे श्रुतिवचनोंमें **'सर्व'** शब्दसे जगत् अभिप्रेत नहीं है किन्तु जिन-जिन लीलाओंमें जो देशकालका प्रभेद होता है उन लीलाओंमें जिन जीवात्माको भगवान् साथ रखना चाहते हैं वैसे भक्त होते हैं. उतने ही रूप भगवान् भी प्रकट करते हैं. उन रूपोंको **'आधिकारिक'** रूप कहा जाता है. उनका जो **मण्डल**=समूह होता है. उस मण्डलमें होना यहां कहा जाता होनेके कारण कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती. इसीलिए आगे जानेपर ऐसा कहनेमें आया है कि **''उसको सभी प्रकारसे सब कुछ मिलता है, वह एक रूपमें , तीन रूपोंमें, पांच रूपोंमें, सात रूपोंमें, नौ रूपोंमें और ग्यारह रूपोंमें भी प्रकट होता है. इतना ही नहीं बल्कि एक-सौ-ग्यारह और बीस-हजार रूपोंमें भी''** (छान्दो.उप.७।२६।२). जैसे अनेकोंके समूहमें अवस्थित किसी एक पुरुषकी प्राथमिकता मानी नहीं जाती, उसी प्रकार ऐसे रूपोंके बारेमें भी कहा जा सकता है. इसलिए **'मण्डल'** पदका प्रयोग करनेमें आया है.

विकारवर्ति च तथाहि स्थितिम् आह ॥४।४।१९॥

(शंकान्तरम्)

ननु एवं सति ''श्वः त्वद्गेहम् आयास्ये'' इति प्रभुणा उक्ते तदाशया तत्स्थितिः न उपपद्यते, नित्यत्वाद् लीलायाः तस्य कालस्य तदागमनस्य च तदापि वर्तमानत्वात्. तथा प्रभूक्तिरपि न उपपद्यते इति आशंक्य

(अन्य शंका)

अनुवाद : यहां एक शंका होती है कि *जैसा प्रतिपादन किया जा रहा है वैसा ही हो तो अवतारलीलामें यदि भगवान् किसी भक्तको आश्वासन दें कि ''कल तेरे घर आऊंगा'' तो ऐसी आशा रख कर भगवान्की प्रतीक्षा कैसे उपपन्न हो सकती है, क्योंकि लीला तो नित्य माननेमें आयी है, इसलिए वह आगमन अथवा आगमन का समय भी वहां नित्य होनेसे सिद्ध ही है. तो भगवान्के द्वारा दिया जाता आश्वासनवचन भी उपपन्न नहीं होगा.*

(तत्समाधानम्)

समाधत्ते. इह भगवल्लीला प्रकृतिः तद्विरुद्धो अर्थो 'विकारः' इति उच्यते. तत्र न वर्तते तज्ज्ञानं तादृशं च भवति यत् स्वरूपं प्रति तथा वदति तस्य स्वगेहे तदा भगवत्स्थितिज्ञानं न भवति इति अर्थः. उपलक्षणञ्च एतत्. अतो यद्देशकालविशिष्टा यादृशी या लीला, तस्याः तादृश्याएव तल्लीलामध्यपातिनो भक्तस्य ज्ञानं, न अन्यविषयकम् इति ज्ञेयम्. अतएव द्वितीयस्यापि ''मह्यं पूर्वम् उक्तम् आसीत् तेन आगतः'' इत्येव ज्ञानं भवति. तदैव हि रसोदयो अतो रसरूपमध्यपातित्वाद् लीलायाः रसस्य च भगवदात्मकत्वाद् भगवद्रूपत्वेन सर्वम् उपपद्यते लीलायाम्.

(उसका समाधान)

अनुवाद : ऐसी शंकाका समाधान करते हैं कि प्रकृत भगवल्लीलासे विरुद्ध प्रत्येक बातके लिए **'विकार'** पदका प्रयोग करनेमें आया है. इसलिए वैसे समय उस भक्तको ''भगवान् मेरे घर नहीं हैं'' ऐसा लगता है. इसीलिए वह भक्त ''भगवान् पधारेंगे'' ऐसी प्रतीक्षा कर सकता है. इसलिए उस समय भगवान्का वैसा स्वरूप उसको भासित होता है. यह तो उदाहरणके रूपमें कहा गया है. क्योंकि सचमें तो जिस देश अथवा जिस काल में जैसी लीला भगवान् करना चाहते हों वैसी लीलामें सहभागी होनेवाले भक्तको उस भगवल्लीलाका भान वैसा ही होता है, दूसरे किसी भी प्रकारसे अथवा दूसरी किसी भी बातका भान नहीं रहता. इसीलिए भक्तको भी जब भगवान् पधारें तब दूसरी लीलाके अवसर पर **''मुझे वचन दिया था इसलिए भगवान् पधारे''** ऐसा भान संभव है. जब इस प्रकार हो तब ही लीलामें रसात्मकता प्रकट हो पायेगी. क्योंकि लीला भी रसमध्यपाती होती है और वह रस भी भगवदात्मक होता है. एक भगवान्के अनेक रूप संभव होनेके कारण भगवल्लीलामें सभी उपपन्न हो जाता है.

अत्र प्रमाणम् आह तथाहि स्थितिम् आह इति. ''सर्वम् आप्नोति सर्वशः'' (छान्दो.उप.७।२६।२)इति श्रुतिः एकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसम् आप्नोति इति वदन्ति उक्तरीत्यैव लीलायां स्थितम् आह इति अर्थः. अतो वस्त्वेव इदम् अलौकिकम् इदृशम् इति मन्तव्यं वैदिकैः इति. अलौकिके अर्थे लौकिकरीत्यनुसरणं न युक्तं किन्तु अलौकिकरीत्यनुसरणमेव युक्तम् इति 'हि' शब्देन द्योत्यते. एतेन ''रसो वै सः'' (तैत्ति.उप.२।७) इति श्रुतेः लीलाविशिष्टएव प्रभुः तथेति तादृशएव परमफलम् इति ज्ञापितं भवति.

अनुवाद : इस बारेमें प्रमाण बताते हैं **तथाहि स्थितिम् आह**

पदोंसे. **''उसे सभी प्रकारसे सब कुछ मिलता है''** (छान्दो.उप.७।२६।२) इस श्रुतिमें एक ही भक्तके लिए **'सर्वशः'**=सभी प्रकार सभी लीलारसका भान मिलता है. ऐसा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति कहे गये रीतिके अनुसार ही भगवल्लीलामें भक्तकी स्थिति प्रतिपादित करती है. यह तो अलौकिक वस्तु ऐसी ही है इसलिए ऐसे ही स्वीकार कर लेना वैदिकोंके लिए उचित है. अलौकिक प्रकारमें लौकिक रीतिका अनुसरण योग्य नहीं है परंतु अलौकिक विचाररीतिका अनुसरण ही युक्त होता है. यह बात 'हि' पदके प्रयोगके द्वारा भारपूर्वक कहनेमें आयी है. इससे **''रसो वै सः''** (तैत्ति.उप.२।७) श्रुतिके आधारपर भगवान्का स्वरूप लीलाविशिष्ट ही होनेके कारण परमफलका स्वरूप भी उसके अनुसार स्वीकारना युक्त है.

(श्रुतिस्मृत्यादिभिः भगवतः अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वम्)

दर्शयतश्च एवं प्रत्यक्षानुमाने ॥४।४।२०॥

नच लौकिकयुक्तिविरोधो अत्र बाधकत्वेन मन्तव्यः किन्तु साधकत्वेन, यतः प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृतीअपि लौकिकयुक्त्यप्रसारेण अलौकिके भगवत्सम्बन्धिनि अर्थे अन्यथाभावनं निषेधति ''न एषा तर्केण मतिः आपनेया'' (कठोप.१।२।९) ''परा अस्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'' (श्वेता.उप.६।८) ''अलौकिकास्तु ये भावाः न तान् तर्केण योजयेत्'' (द्रष्ट.महाभा.६।५।१२) श्रीभागवतेच ''नहि विरोधः उभयं भगवति अपरिगणितगुणगणे ईश्वरे अनवगाहयमाहात्म्ये अर्वाचीन-विकल्प-वितर्क-विचार-प्रमाणाभास-कुतर्कशास्त्र-कलिलान्तः-करणाशय-दुरवग्रह-वादिनां विवादानवसरे'' (भाग.पुरा.६।९।३६) इत्यादि-वाक्यैः अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव परमफलत्वं प्रदर्श्यते.

(श्रुति स्मृति आदिमें भगवान्का अचिन्त्य अनन्तशक्तिमान् होना स्वीकारा गया है)

अनुवाद : इस बारेमें लौकिकके हेतुओंके कारण आते विरोधाभास श्रौत

निर्धारणमें बाधक नहीं बन सकते. अपितु साधक सिद्ध होते हैं. क्योंकि **'प्रत्यक्षानुमाने'**=अर्थात् प्रत्यक्ष श्रुतिवचन और स्मृतिवचनों के कारण अनुमानित श्रुतिवचन भी लौकिक युक्तिका निवारण करके अलौकिक भगवत्संबंधी वस्तुओंके बारेमें अन्यथा भावना करनेका निषेध करते हैं **''यह श्रुति प्रकट होती अभिमति युक्तिसे नहीं मिटानी चाहिये.''** (कठोप.१।२।९) **''इस ब्रह्मकी तो अनेकविध शक्तियें सुनी जाती हैं जैसे कि स्वाभाविक ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति भी''** (श्वेता.उप.६।८) **''जो भी कोई अलौकिक बात हो उन्हें अपने तर्कोंके साथ कभी भी नहीं जोड़ना चाहिये''** (द्रष्ट.महाभा.६।५।१२) श्रीभागवत पुराणमें भी **''भगवान्में किसी भी प्रकारका विरोधाभास नहीं होता. क्योंकि भगवान् अपरिमित गुणोंवाले होते हैं. भगवान्के अगाध माहात्म्यका अवगाहन हो नहीं सकता. ईश्वर होनेसे अर्वाचीन विकल्प या वितर्क वाले विचार अथवा प्रमाणाभासवाले कुतर्कशास्त्रोंसे कलुषित अन्तःकरणवालोंके लिए भगवान्का सच्चा स्वरूप समझ पाना कठिन हो जाता है. अतः भगवान् ऐसोंके द्वारा खड़े किये गये विवादोंसे पर होते हैं''** (भाग.पुरा.६।९।३६). ऐसे अनेक वाक्योंके आधारपर उस भगवान्में अचिन्त्य अनंत शक्तियां होनेके कारण भगवत्-स्वरूप ही परमफल होता है, यह दरसानेमें आया.

किञ्च ''ता वां वास्तूनि उष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः, अत्र आह तद् उरुगायस्य वृष्णः परमं पदम् अवभाति भूरि'' (ऋक्.संहि.१।१५४।६) **इति ऋग्वेदे पठ्यते किञ्चित्पाठभेदेन यजुःशाखायामपि. ता तानि वास्तूनि वां गोपीमाधवयोः सम्बन्धीनि गमध्यै प्रसादत्वेन प्राप्तुम् उष्मसि कामयामहे. तानि कानि? इति आकांक्षायां गूढाभिसन्धिम् उद्घाटयति यत्र श्रीगोकुले गावो भूरिशृंगाः बहुशृंगाः रुरुप्रभृतयो वसन्ति इति शेषः. ग्राम्यारण्यपशूपलक्षणार्थम् उभयोरेव ग्रहणम् अत्र आह भूमावेव तद् उरुगायस्य बहुगीयमानस्य वृष्णः भक्तेषु कामान् वर्षति इति वृषा तस्य पदं स्थानं वैकुण्ठं,**

ततोपि परमम् अधिकम्, अत्र विचित्रलीलाकरणात्. भूरि यमुनापुलिन-निकुञ्ज-गोवर्धनादि-रूपत्वेन बहुरूपम्. तथाच तत्रत्यानि तानि कामयामहे इति वाक्यार्थः सम्पद्यते.

अनुवाद : "ता वां वास्तूनि उष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगा अयासः, अत्र आह तद् उरुगायस्य वृष्णः परमं पदम् अवभाति भूरि" (ऋक्.संहि.१।१५४।६) ऋग्वेदमें ऐसा एक वचन उपलब्ध होता है. ता=वे वास्तूनि वां गोपी और माधव से संबंध रखनेवाली गमध्यै उनके अनुग्रह अथवा प्रसाद से मिलनेवाली उष्मसि=कामना करते हैं. वह कैसी? इस जिज्ञासाकी पूर्तिके रूपमें गूढ़ अभिसन्धि प्रकट करते हैं. यत्र श्रीगोकुलमें गावो भूरिशृंगाः=अनेकविध सींगवाले हिरण आदि बसते हों. व्रजमें ग्राम्य और आरण्य प्रभेदवाले बहुत सारे पशुओंका वास दरसानेके लिए ऐसा वर्णन किया गया है. दूसरी एक बात इस भूमिके बारेमें यह बतानेमें आयी है कि तद् उरुगायस्य=कई प्रकारसे जिसकी कीर्ति गायी जाती हो ऐसे वृष्णः=भक्तोंकी सभी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले भगवान्का पद=स्थान जो वैकुण्ठ, उससे भी परमम् अधिक, इस व्रजमें भगवान् लीला प्रकट करते हैं. 'भूरि'=यमुनाके तीर पर, निकुंजोंमें, गोवर्धन पर्वतके ऊपर ऐसे उन भगवान्के अनेक रूप प्रकट होते हैं. उन रूपोंकी आनन्दानुभूतिकी कामना है, वाक्यका अर्थ ऐसा निष्पन्न होता है.

(आचार्याणां तात्पर्यम् : प्रभोरेव स्वतः पुरुषार्थत्वम्)

एतेन लीलासम्बन्धिवस्तूनां यत्र फलत्वेन प्रार्थनं, तत्र तल्लीलाकर्तुः परमफलत्वे किं वाच्यम्! इति आशयो ज्ञाप्यते. "अथ ह वाव तव महिमामृतरससमुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवतरसुखेन विस्मारित-दृष्टश्रुत-विषयसुख-लेशाभासाः परमभागवताः" (भाग.पुरा.६।-९।२९) इति श्रीभागवते. एतेनापि कैमुतिकन्यायेन प्रभोरेव स्वतःपुरुषार्थत्वं ज्ञाप्यते. फलप्रकरणत्वात् तदेव आचार्यतात्पर्यविषयः इति ज्ञायते.

(महर्षि बादरायण आचार्यका तात्पर्य यही है कि प्रभु ही स्वत:पुरुषार्थरूप हैं)

अनुवाद : इससे भगवान्‌की लीलाके साथ सम्बन्धित वस्तुओंके बारेमें जहां फलबुद्धि रखकर आकांक्षा की जाती हो, वहां वैसी लीलायें करनवाले प्रभुके परम फल होनेके बारेमें कहने लायक कुछ रह नहीं जाता. **''अब तेरी इस महिमाके अमृतरूप समुद्रके छींटोंको एक बार चख लेनेवाले परम भागवतोंको अपने मनमें जो नित्य नूतन सुखका जो अनुभव होता है, उसके कारण जगत्‌में देखे या सुने हुवे क्षुद्र सुखोंका विस्मरण हो जाता है''** (भाग.पुरा.६।९।२९) ऐसा श्रीभागवतमें कहा गया है. इसके कारण भी कैमुतिकन्यायसे प्रभु ही स्वयं स्वत:पुरुषार्थ हैं, यह बताया. फलप्रकरण होनेके कारण यही आचार्य बादरायणको अभिप्रेत आशय है, ऐसा बताते हैं.

(श्रीपुरुषोत्तमस्यैव फलरूपत्वे हेत्वन्तरनिरूपणम्)

भोगमात्रसाम्यलिंगात् च ॥४।४।२१॥

इतोऽपि हेतोः पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमं फलम् इति ज्ञायते. यतः ''सो अश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' (तैत्ति.उप.२।१) इति श्रुतौ भक्तसाम्यम् उच्यते. तच्च पुरुषोत्तमएव सम्भवति. यतः सख्यं दत्वा तत्कृतात्मनिवेदनम् अंगीकुर्वन् अतिकरुणः स्वस्वरूपानन्दम् अनुभावयन् तं प्रधानीकरोति. अन्यथा भक्तो अनुभवितुं न शक्नुयाद्. युक्तञ्च एतत् प्राप्तं फलं स्वाधीनं भवत्येव अन्यथा फलत्वमेव न स्यात्. तथाच अस्माद् लिंगादपि प्रभोरेव परमफलत्वं सिध्यति. ''न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते'' (श्वेता.उप.६।८) इति श्रुतिविरोधपरिहाराय 'मात्र' पदम्. नच अत्र कामभोगस्य फलत्वं शंकनीयम् ''आप्नोति परम्'' (तैत्ति.उप.२।१) इत्येतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवरूपत्वाद् भोगस्य. अनुभूयमानस्यैव हि सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वोक्तेः.

(फलरूप तो श्रीपुरुषोत्तम ही हो सकते हैं इसके समर्थनमें दूसरा हेतु)

अनुवाद : परमफलके रूपमें पुरुषोत्तम ही स्वीकारने योग्य हैं इसमें दूसरा भी एक हेतु है. क्योंकि **''वह ब्रह्मज्ञानी विपश्चिद् ब्रह्मके साथ सारी कामनाओंको पूर्ण कर सकता है''** (तैत्ति.उप.२।१) यह श्रुति ज्ञानी और भक्त दोनोंको एक प्रकारका दिखाती है. और यह तो पुरुषोत्तमको मानें तो ही शक्य हो सकता है. क्योंकि पुरुषोत्तम ही अपना सख्य प्रदान करके भक्तके द्वारा आत्मनिवेदनका अंगीकार करके अतिशय करुणा दिखाकर अपने स्वरूपके आनन्दका अनुभव करानेके लिए जीवात्माको प्रमुखता देते हैं. यह पुरुषोत्तम यदि भक्तको प्रमुखता ना दे तो भक्त अपने प्रिय प्रभुका अनुभव करने समर्थ नहीं हो पाता. क्योंकि जो फलानुभूति जीवात्माको होती है वह यदि जीवात्माके आधीन ना हो तब तो वैसी अनुभूतिके फलानुभूति होनेका भाव ही अनुभवकर्तामें प्रकट नहीं हो पायेगा. इसलिए इस हेतुके कारण भी प्रभु स्वयं ही परमफल होते हैं, यह सिद्ध होता है. श्रुतिमें कहा गया है कि **''परमात्माके समान कोई हो नहीं सकता तो परमात्मासे अधिक कैसे हो पायेगा''** (श्वेता.उप.६।८). ऐसी श्रुतिसे विरोधका परिहार करने ही प्रस्तुत सूत्रमें भोग मात्रमें समानता प्रकट होती अन्य कोई समानता नहीं ऐसा कहा. यहां कामपूर्तिको ही फल मानना उचित होगा. क्योंकि व्याख्येय ऋचामें ब्रह्मज्ञानीको परमफल मिलता है, इसकी व्याख्याके रूपमें ही यह विधान आता है कि **''ब्रह्मज्ञानी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ अपने सभी तरहकी कामनाओंका उपभोग करता है''** (तैत्ति.उप.२।१). अर्थात् यह ब्रह्मकी स्वरूपानुभूति ही कामोपभोगतया निरूपित हुयी है. क्योंकि अनुभूयमान सुख ही लोकमें पुरुषार्थतया स्वीकारा जाता है.

(अत्र आशंकान्तरम्)

एवं भगवतः स्वतः पुरुषार्थरूपत्वम् उक्त्वा कर्मफलभोगानन्तरम् आवृत्तिवद् अत्रापि आवृत्तिः भविष्यति इति आशंकानिरासाय उत्तरं पठति :

(इस बारेमें दूसरी भी एक आशंका)

अनुवाद : ऐसे भगवान् स्वयं ही पुरुषार्थरूप हैं यह समझाकर जगत्में अपने किये हुए कर्मोंका फल भोगनेके बाद जीवात्माको फिरसे जगत्में जन्म लेना पड़ता है या नहीं? पुरुषोत्तमके स्वरूपके आनन्दानुभवके बाद भी कदाचित् जन्म लेना पड़ता हो, ऐसी शंकाके समाधानके लिए अब कहते हैं:

अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात् ॥४।४।२२॥

(समाधानम्)

पुष्टिमार्गीय-भक्तविशेष-प्रवर्तकनिवर्तक-वेणुशब्दाद् भगवन्निक-टगतौ अनावृत्तिः पूर्वोक्ता. मर्यादामार्गीयाणां वेदरूपात् शब्दात् तदुक्तसाधनाद् अनावृत्तिः द्वितीयेन इत्यपि तात्पर्यविषयः श्लिष्टो अर्थो ज्ञेयः. तथा सति परमफलम् अग्रे स्वतएव भावी इति भावः. इति अलं विस्तरेण.

(इस शंकाका समाधान)

अनुवाद : अपने विशेष भक्तोंको बुलानेके लिए भगवान्के द्वारा किया हुआ वेणुनाद सुनकर जब वह अपने भगवान्के पास एक बार पहुंच जाता है तो वह कभी फिर संसारमें लौटता नहीं हैं, इस बातका प्रतिपादन तो पहले ही कर दिया गया है. अब यहां मर्यादामार्गीय भक्तोंको भी संसारमें फिर आना नहीं पड़ता, यह समझा रहे हैं कि वेदरूप शब्दोंमें दिखलाये गये साधनोंका अनुष्ठान करनेवालोंकी भी संसारमें फिरसे आवृत्ति नहीं होती. इसलिए परमफल तो आगे जाकर अपने आप ही उनका भावी बना रहेगा. ऐसा भाव प्रकट होता है. इस बारेमें इससे अधिक विस्तार आवश्यक नहीं है.

उद्धृतवचनानुक्रमणिका

अथ अहम् अंशकलया	(भाग.पुरा.३।२१।३२)	६
अथ ह वाव तव	(भाग.पुरा.६।९।२९)	१९४
अनेन जीवेन आत्मना	(छान्दो.उप.६।३।२)	१६४
अरूपवदेव हि	(ब्र.सू.३।२।१४)	१६९
अलौकिकस्तु ये भावा:	(द्रष्ट.महाभा.६।५।१२)	१९२
असद् वा इदम् अग्रे आसीद्	(छान्दो.उप.६।२।१)	१५७
अस्थूल	(बृह.उप.३।८।८)	१३७
अहं सर्वस्य जगत: प्रभव:	(भग.गीता ७।६)	१४९
अहम् अस्मि ब्रह्म	(महाना.उप.५।१०)	१७८
आकाशादेव	(छान्दो.उप.१।९।१)	१५२
आत्मैव इदं सर्वम्	(छान्दो.उप.७।२५।२)	१३६
आनन्दाद्ध्येव	(तैत्ति.उप.३।६)	१५२
आप्तकाम	(बृह.उप.४।३।२१)	१६१
आप्नोति परम्	(तैत्ति.उप.२।१)	१९५
इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा	(बृह.उप.४।५।७)	१३६
इदं सर्वं यद् अयम् आत्मा	(बृह.उप.२।४।६)	१४७,१५२
इह आगतो अहं विरहातुरात्मा	(भाग.पुरा.३।४।२०)	१७५
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा	(भग.गीता ९।१५)	१४८
एकदेशविकृतम् अनन्यवद्	(परिभाषेन्दुशेखर.३७)	७७
एकमेव अद्वितीयम्	(छान्दो.उप.६।२।१)	१३६,१६६
एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं	(छान्दो.उप.६।१।४)	१४४
एषहि एव साधु कर्म	(कौषी.उप.३।८)	१६२
कर्ता कारयिता हरि:	( )	११७
कर्तारम् ईशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्	(मुण्ड.उप.३।१।३)	१५२
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति	(भग.गीता ९।२१)	४०
ज्ञानी प्रीयतमो अतो मे	(भाग.पुरा.११।१९।३)	८७

ततु समन्वयाद्	(ब्र.सू.१।१।३)	१२१
तद् आत्मानं स्वयम्	(तैत्ति.उप.२।७)	१३०
तद् यो अहं सो असौ	(ऐत.आर.२।२।४)	१७८
तन्तु औपनिषदं पुरुषं	(बृह.उप.३।९।२६)	१२५
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा	(भाग.पुरा.३।१२।१८)	१६४
तमेव विदित्वा अतिमृत्युम्	(श्वेता.उप.३।८)	९८
तम् आदेशम् अप्राक्षो येन	(छान्दो.उप.६।१।२-३)	१४४
तम् एतं वेदानुवचनेन	(बृह.उप.४।४।२२)	१२४
तर्काप्रतिष्ठानाद्	(ब्र.सू.२।१।११)	१५५
तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः	(तैत्ति.उप.२।१)	११९
ता वां वास्तूनि	(ऋक्.संहि.१।१५४।६)	१९३
तासां ब्रह्म महद् योनिर्	(भग.गीता १४।४)	१५२
त्रीणि रूपाणि	(छान्दो.उप.६।४।१)	१४६
दिवीव चक्षु आततम्	(ऋक्.संहि.१।२२।२०)	१८५
द्वया ह प्राजापत्याः	(बृह.उप.१।३।१)	२८,३०
न एषा तर्केण मतिः	(कठोप.१।२।९)	१७०, १९२
न तत्समः च अभ्यधिकः	(श्वेता.उप.६।८)	१९५
नहि विरोधः उभयं भगवति	(भाग.पुरा.६।९।३६)	१९२
नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभावम्	(द्रष्ट.नृसिं.उ.ताप.उप.९)	११२
परा अस्य शक्तिः	(श्वेता.उप.६।८)	१९२
पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा	(बृह.उप.३।२।१३)	१६२
प्रजापतिः अकामयत प्रजायेय	(तैत्ति.ब्राह्म.२।१।२)	१३२
प्रजापतिः यज्ञान् असृजताम्	(तैत्ति.संहि.१।६।९।१)	१३२
प्रयतात्मनः	(भग.गीता ९।२६)	३
बृहत्वाद् बृंहणत्वाद् ब्रह्म	(द्रष्ट.विष्णुपुरा.१।१२।५५)	९९
ब्रह्म तं परादात्	(बृह.उप.२।४।६)	१३६
ब्रह्मविद् आप्नोति परम्	(तैत्ति.उप.२।१)	११३, १८४

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	(भग.गीता ४।२४)	१३३
भूमैव सुखं भूमात्वेव	(छान्दो.उप.७।२३।१)	१८६
भृगु वै वारुणि	(तैत्ति.उप.३।१)	११३
मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्	(भाग.पुरा.११।२५।२४)	२९,३१
मम योनिर् महद् ब्रह्म	(भग.गीता १४।३)	१५२
मृतिका इत्येव	(छान्दो.उप.६।१।४)	१५६
यः आत्मनि तिष्ठन्	(शतप.ब्रा.१४।६।७।३०)	१७७
य एवं वेद प्रतितिष्ठति	(तैत्ति.उप.३।६)	१३३
य सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्ता	(छान्दो.उप.३।१४।२)	१५९
यज्ञो दानं तपश्चैव	(भग.गीता १८।५)	३
यतो वा इमानि भूतानि	(तैत्ति.उप.३।१)	११२,११९,१२७
यत्र न अन्यत् पश्यति	(छान्दो.उप.७।२४।१)	१८६
यत्र	(भाग.पुरा.१०।८५(=८२)।४)	१४४
यद् इदं किञ्च तत् सत्यम्	(तैत्ति.उप.२।६)	१५६
यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः	(मुण्ड.उप.१।१।६)	१५२
यदेव विद्यया करोति	(छान्दो.उप.१।१।१०)	१२४,१३३
यस्य अमतं तस्य मतं	(केनोप.२।३)	९८
रसो वै सः	(तैत्ति.उप.२।७)	१९१
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्	(ब्र.सू.२।१।३३)	१८७
वाचारम्भणं विकारः	(छान्दो.उप.६।१।४)	१३६,१४६,१५४
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वाद्	(ब्र.सू.२।१।२७)	१५१,१६०
स एकधा भवति त्रिधा भवति	(छान्दो.उप.७।२६।२)	१८९,१९१
सः सर्वं भवति	(बृह.उप.१।४।१०)	१३६
सएव सर्वं सृजति सएव अवति	(महाभा.४।११।२५)	१५०
सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति.उप.२।१)	१११
सदेव सौम्यम् इदम् अग्रे	(छान्दो.उप.१।९।१)	१५२,१५६
सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्	(छान्दो.उप.३।१४।२)	१४८

सर्वं समाप्नोति सर्वशः	(छान्दो.उप.७।२६।२)	१८९
सर्वं समाप्नोषि ततो असि	(भग.गीता ११।४०)	९१
सर्वं ह पश्यति	(छान्दो.उप.७।२६।२)	१८७
सर्वस्य वशी सर्वस्य ईशानः	(बृह.उप.४।४।२२)	१७३
सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि	(छान्दो.उप.१।९।१)	१४९
सहस्रसम्मित स्वर्गो लोकः	(तैत्ति.संहि.७।१।५।७)	६७
सो अकामयत बहु स्यां	(तैत्ति.उप.२।१)	१४७
सो अश्नुते	(तैत्ति.उप.२।१)	१८७
हरिः हि निर्गुण साक्षात्	(भाग.पुरा.१०।८५।५)	२९,३१

उद्धृतग्रन्थसंकेततालिका

ऋक्.संहि.	ऋग्वेदसंहिता
ऐत.आर.	ऐतरेयारण्यकम्
कठोप.	कठोपनिषद्
केनोप.	केनोपनिषद्
कौषी.उप.	कौषीतकि उपनिषद्
छान्दो.उप.	छान्दोग्योपनिषद्
तैत्ति.उप.	तैत्तिरीयोपनिषद्
तैत्ति.ब्राह्म.	तैत्तिरीयब्राह्मणम्
तैत्ति.संहि.	तैत्तिरीयसंहिता
नृसिं.उ.ता.उप.	नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
परिभाषेन्दुशेखरः	
पाणि.सू.	पाणिनिसूत्रम्
बृह.उप.	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र.सू.	ब्रह्मसूत्रम्
भग.गीता.	श्रीमद्भगवद्गीता
भाग.पुरा.	श्रीभागवतपुराणम्
महाना.	महानारायणोपनिषद्
महाभा.	महाभारतम्
मुण्ड.उप.	मुण्डकोपनिषद्
विष्णुपुरा.	विष्णुपुराणम्
शतप.ब्रा.	शतपथब्राह्मणम्
श्वेता.उप.	श्वेताश्वतरोपनिषद्